MHI-03

इतिहास-लेखन

भारतीय इतिहास–लेखन की विभिन्न दृष्टियां और विषय–2

7

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

— *इन्दिरा गांधी*

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

इन्दिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

MHI - 03
इतिहास-लेखन

खंड

7

भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियां और विषय-2

विशेषज्ञ समिति

कार्यक्रम संयोजक : प्रो. ए. आर. खान

पाठ्यक्रम सम्पादक : प्रो. सब्यसाची भट्टाचार्य

पाठ्यक्रम संयोजक : डॉ. शशिभूषण उपाध्याय

खंड निर्माण दल

इकाई संख्या	इकाई लेखक	इग्नू संकाय
इकाई 24 और 25	डॉ. शशिभूषण उपाध्याय इतिहास संकाय इग्नू, नई दिल्ली	(संरचना संपादन) डॉ. शशिभूषण उपाध्याय
इकाई 26, 27, 28, 29 और 30	प्रो. रजत राय इतिहास विभाग प्रेसिडेंसी कॉलेज, कोलकाता	

सामग्री निर्माण

श्री जितेन्द्र सेठी
इग्नू, नई दिल्ली

श्री एस.एस. वेंकटाचलम
श्री मनजीत सिंह
इग्नू, नई दिल्ली

जुलाई, 2006

ISBN-81-266-2503-1

सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली–110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

"Paper used: Agrobased Environment Friendly"

लेजर कम्पोजिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, V-166A, भगवती विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059

मुद्रक : करन प्रैस, जैड - 41, ओखला फेस - 2, नई दिल्ली – 110020

खंड 7 भारतीय इतिहास लेखन की विभिन्न दृष्टियां और विषय—2

खंड 6 की पिछली इकाइयों में हमने इतिहास-लेखन के कुछ प्रमुख 'स्कूलों' का परीक्षण किया है। उपनिवेशवादी, राष्ट्रवादी और साम्राज्यवादी विचारधाराओं (इनके खिचड़ी विचारों को 'स्कूल' कहना कितना उपयुक्त होगा!) के साथ-साथ मार्क्सवादी विचारधारा और तथाकथित कैम्ब्रिज स्कूल का अध्ययन हमने किया है जिसमें अन्य दृष्टिकोणों की आलोचना की गई है। **खंड 7** में हम समकालीन शोध की कुछ नई प्रवृत्तियों का परीक्षण करने जा रहे हैं: क) इसमें इतिहास-लेखन के 'गैर-संभ्रांत' दृष्टिकोण और व्याख्याओं के उदय और विकास की चर्चा की जाएगी, और ख) मौजूदा शोध में इतिहास-लेखन के विशेषज्ञतापूर्ण क्षेत्रों के विकास का परीक्षण किया जाएगा।

हाल में इतिहास-लेखन का नजरिया बदला है; विषयों की नई ढंग से व्याख्या की जा रही है। गौरतलब है कि आज का समय दूर अतीत के समय से काफी अलग है। जब भी इतिहासकारों से किन्हीं समकालीन घटनाओं, व्यक्तियों आदि के बारे में पूछा जाता है, वे कहते हैं : 'हम समय अन्तराल को समझ नहीं पाते।' किसी भी समस्या पर विचार करने की यह सही दृष्टि है; विद्वानों की कृतियों का महत्व और उसके दूरगामी प्रभाव का इल्म समकालीनों को नहीं भी हो सकता है। दूसरी ओर, इसमें कई प्रकार की प्रवृत्तियों पर विचार किया जाता है। इस खंड की इकाइयों में भी प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है जिसमें संपादकीय हस्तक्षेप बिलकुल नहीं है। यहां यह बता देना आवश्यक है कि इतिहास की जिन कृतियों का यहां विश्लेषण किया गया है या उनकी आलोचना की गई है, उनके प्रति हमारे मन में किसी भी प्रकार की अवमानना का भाव नहीं है। इस खंड में सबसे पहले इतिहास-लेखन से संबंधित उन प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण किया गया है जो इस धारा से उपजे हैं कि इतिहास-लेखन को संभ्रांत पूर्वाग्रह से मुक्त करने की जरूरत है। इस दृष्टिकोण को आमतौर से 'मिट्टी से उपजा इतिहास' कहा जाता है और यह प्रवृत्ति हाशिए पर खड़े लोगों के इतिहास संबंधी विचारधारा (सबआल्टर्न स्कूल) से पहले शुरु हो चुकी थी। पर 'मिट्टी से उपजा इतिहास-लेखन' अपनी सोच में मार्क्सवाद के करीब है। सबआल्टर्न की अवधारणा एन्टोनियो ग्रामशी से ग्रहण की गई है जो मार्क्सवादी विचारधारा से अधिक ग्रहणशील और उदार है। इन दोनों नजरिए ने 'इतिहास-लेखन' को प्रभावित किया; 'जनोन्मुखी' दृष्टिकोण का अंग्रेजी भाषी दुनिया में अपेक्षाकृत व्यापक प्रभाव है जबकि अन्तरराष्ट्रीय स्तर (अंग्रेजी भाषी दुनिया से आगे बढ़कर खासतौर पर लैटिन अमेरिका में) पर शोध पर प्रभाव डालने के लिए सबआल्टर्न इतिहासकार बतौर एक समूह बेहतर, लक्ष्य केन्द्रित और संगठित तरीके से काम करते हैं।

इस खंड की कुछ इकाइयों में विद्यार्थियों को आधुनिक इतिहास-लेखन की बारीकी समझने के लिए हमने शोध के कुछ विशेषज्ञातापूर्ण क्षेत्रों का परिचय दिया है जगह की कमी के कारण इनमें से कई का उल्लेख या संक्षिप्त चर्चा की गई है। आर्थिक इतिहास, कृषक इतिहास, श्रम इतिहास, पर्यावरण इतिहास, धार्मिक से लेकर विज्ञान-प्रौद्योगिकी अध्ययन आदि समेत सांस्कृतिक इतिहास की भी चर्चा की गई है। भारत की जातियों और जनजातियों के संबधं में किए गए इतिहास-लेखन को हमें एक ही इकाई में समेटना पड़ा है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जेंडर अध्ययन का जोर बढ़ा है और यह इतिहास के पुनर्लेखन की मांग करता है। इसे भी हमने इसी इकाई में शामिल किया है। हालांकि इन इकाइयों में सबकुछ समेटने का प्रयास नहीं किया गया है और हमने कुछ महत्वपूर्ण कार्यों, कृतियों और पहलुओं को आपके सामने रखने का प्रयास किया है। इससे युवा इतिहासकारों को विशेषज्ञतापूर्ण क्षेत्रों में शोध करने और हमारे समय में किए जा रहे इतिहास-लेखन पर पुनर्विचार करने की प्रेरणा मिलेगी।

इकाई 24 जनोन्मुखी इतिहास

इकाई की रूपरेखा

24.1 प्रस्तावना

परम्परागत रूप से संभ्रांतों का राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक इतिहास लिखा जाता रहा है और इसी प्रतिक्रिया में आम जन से जुड़ा इतिहास लिखा गया। इस इतिहास को आमतौर पर आम जन का इतिहास, आमलोगों का इतिहास या फिर आम जनता की नजर से देखा गया इतिहास, जन दृष्टि और यहां तक कि रोजमर्रा का इतिहास भी कहा गया। परम्परागत तौर पर सम्राटों और शासकीय वर्ग का इतिहास लिखा जाता रहा है। रानके और उनके अनुयाइयों ने राजनैतिक और प्रशासनिक इतिहास-लेखन की इस परम्परा को और भी मजबूत किया। सम्राटों के इतिहास के बरक्स जनता का इतिहास लिखने का प्रयास किया गया। एक ऐसा इतिहास लिखने का प्रयास किया गया जिसे अभी तक इतिहासकारों ने बिलकुल छोड़ रखा था। किसानों और मजदूर वर्गों, महिलाओं और अल्पसंख्यक समूहों, भीड़ में अनजाने चेहरों और अतीत में गुम हुए व्यक्तियों को इस इतिहास-लेखन में स्थान दिया गया। जनोन्मुखी इतिहास लिखने का एक प्रमुख उद्देश्य इतिहास-लेखन के फलक को विस्तृत करना, हाशिए पर खड़े समूह और व्यक्तियों के जीवन में झांककर देखना, नए स्रोतों की खोज करना और पुरानों की पुनर्व्याख्या करना था।

24.2 आरंभ और विकास

आम जन के इतिहास के लेखन की शुरुआत अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हो चुकी थी। शास्त्रीय पश्चिमी परम्परा में इतिहास-लेखन महान व्यक्तियों के कारनामों का आख्यान होता था। आम आदमी को इतिहास के दायरे से बाहर रखा गया था और इसके बारे में लिखना इतिहासकार अपनी तौहीन मानते थे। जैसा कि पीटर बर्क बताते हैं यूरोपीय भाषा में 'समाज' शब्द अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक अपना आधुनिक अर्थ नहीं ग्रहण कर सका था और जिसे आज हम 'समाज' या 'सामूहिक' ढांचा कहते हैं उन संबंधों और संबंधों के फैलाव को और उसकी अवधारणा को इसके बिना समझा नहीं जा सकता है।

एरिक हॉब्सबॉम के अनुसार जैसे ही आम आदमी प्रमुख निर्णयों और घटनाओं का भागीदार बनने लगा और उसे प्रभावित करने लगा वैसे ही इतिहास-लेखन की यह दृष्टि पैदा हुई। केवल क्रांति या ऐसे ही जन उद्वेलन और लामबंदी के समय ही नहीं बल्कि रोजमर्रा के जीवन में भी आम आदमी का हस्तक्षेप बढ़ने लगा परंतु कुल मिलाकर अठारहवीं शताब्दी के अंत तक, जो कि महान क्रांतियों का युग था, ऐसा संभव न हो सका। इसका उत्स वे फ्रांसीसी क्रांति में ढूंढते हैं जिसके कारण आम जनता का इतिहास लिखने का अवसर और प्रेरणा मिली। इसी दौरान और उसके बाद आम जनता और उनकी कारगुजारियों से संबंधित दस्तावेज भी तैयार किए गए। वे कहते हैं :

> 'फ्रांसीसी क्रांति के अध्ययन से बड़ी तादाद में आम आदमी के इतिहास का उदय हुआ। इसका एक प्रमुख कारण था कि इतिहास की इस महान घटना की दो प्रमुख विशिष्टताएं थीं जो इसके पहले कभी नहीं घटी थीं। सबसे पहली बात यह कि यह एक बड़ी क्रांति थी। इसमें अचानक बड़ी संख्या में एक साथ आम जनता शामिल हुई। अभी तक परिवार और पड़ोस ही इसकी सीमा थी। उन्होंने इस सीमा का अतिक्रमण किया। दूसरी बात यह हुई कि लम्बी चौड़ी और मेहनती नौकरशाही ने इन्हें वर्गीकृत किया, इनकी फाइल बनाई। इन्हें फ्रांस के राष्ट्रीय और विभागीय लेखागारों में रखा गया। इतिहासकारों ने इस दस्तावेज और स्रोत का लाभ उठाया।'

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दौर में यूरोप में रोमांटिक्स द्वारा 'जनता की खोज' से वस्तुतः यह प्रक्रिया आरंभ हुई। उन्होंने अतीत की पुनर्रचना के लिए बैलड, लोकगीत और कहानियां, मिथक और किंवदंतियों जैसे जनसांस्कृतिक स्रोतों का उपयोग किया। उन्होंने तर्क की बजाए भावना, यांत्रिक विज्ञान की बजाए कल्पना पर बल दिया जिसके आधार पर उन्होंने लोक इतिहास की पुनर्रचना की। जर्मनी में जे.जी.हर्डर ने 'लोकसंस्कृति' पद का प्रयोग किया। उन्नीसवीं सदी के आरंभ के दो इतिहासकारों ने 'पीपुल' शब्द का उपयोग किया है। ई.जी.गेजर ने *हिस्ट्री ऑफ द स्वीडीश पीपुल* और पैलैकी ने *हिस्ट्री ऑफ द चेक पीपुल* नामक पुस्तक लिखी। जर्मनी में जिम्मरमैन ने जर्मन कृषक युद्ध का इतिहास लिखा, फ्रांस में जूल्स मिशले (1798-1874) ने फ्रांसीसी क्रांति पर विस्तार से लिखा और आम जन को इतिहास-लेखन के केन्द्र में खड़ा कर दिया। *हिस्ट्री ऑफ फ्रांस* (1833-67), *हिस्ट्री ऑफ द फ्रेंच रिवॅल्यूशन* (1846-53) और *द पीपुल* (1846) में उन्होंने जनता को नायक बना दिया। इंगलैंड में जे.आर.ग्रीन, गोल्डविन स्मिथ और थोराल्ड रोजर्स ने 1860 और 1870 के दशक में जनता का इतिहास लिखा । ग्रीन ने अपनी पुस्तक *शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ द इंगलिश पीपुल* (1877) के पूर्व कथन में 'दुंदुभी नगाड़ा' इतिहास यानी युद्धों और आक्रमणों का इतिहास लिखने की प्रवृत्ति की आलोचना की है। उन्होंने लिखा है :

> 'इस कृति का उद्देश्य इसके शीर्षक से स्पष्ट है; यह अंग्रेज राजाओं या अंग्रेज आक्रमण का इतिहास नहीं है। यह अंग्रेज जनता का इतिहास है। मैंने विदेशी युद्धों और कूटनीतियों, राजाओं और सामंतों की व्यक्तिगत वीरता, दरबारों की तड़क-भड़क या वहां फैले साजिश और षडयंत्र पर बहुत कम ध्यान दिया है।'

इसी प्रकार थोरोल्ड रोजर्स की सात खंडों में फैली पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ एग्रिकल्चर ऐंड प्राइसेस* (1864-1902) एक सामाजिक और ऐतिहासिक ग्रंथ है।

बीसवीं शताब्दी में वामपंथी इतिहासकारों में जनोन्मुखी इतिहास लिखनेवाले जार्ज लेफेबव्र एक प्रमुख इतिहासकार हैं। उन्होंने फ्रांसीसी क्रांति के संदर्भ में कृषक वर्ग का अध्ययन किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक *द पीजेन्ट्स ऑफ नॉर्दन फ्रांस ड्यूरिंग द फ्रेंच रिवॉल्यूशन* (1924) में क्रांति के पूर्व किसानों के जीवन का विस्तृत सांख्यिकी परीक्षण किया है। उन्होंने किसानों को कई समूहों में विभाजित कर क्रांति में उनकी अलग-अलग भूमिकाओं पर प्रकाश डाला है। इसके अलावा उन्होंने उनकी कार्रवाइयों के कारणों की भी खोज की है; इसकी चर्चा विस्तार से उन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक *द ग्रेट फियर ऑफ* 1789 (1932) में किया है जिसमें

क्रांति के दौरान कृषकों की मानसिकता का विस्तृत वर्णन है। इसे जनोन्मुखी इतिहास का पहला ग्रंथ माना जाता है जिसमें आम जनता के विचारों और व्यवहारों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। एरिक हॉब्सबॉम ने 1985 में लिखा कि उनका मानना है कि 'जार्ज लेफेबव्र एकमात्र ऐसे इतिहासकार हैं जो समय के रूख और विषय को पहचानते हैं और उनकी पुस्तक *ग्रेट फियर* .... एक अद्यतन पुस्तक है।' इसलिए हम कह सकते हैं कि आम जनता के इतिहास-लेखन की शुरुआत लेफेबव्र से हुई।

उनके शिष्य और मित्र जार्ज रुडे ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया और मिशले और रोमान्टिक्स की 'अनालोचनात्मक भावनात्मक परम्परा' से बिलकुल अलग रास्ता अपनाया। रूडे का मूल उद्देश्य आम जनता के जीवन और व्यवहार का अध्ययन करना था। उनका मानना था कि यही इतिहास का मूल तत्व है। अपनी कई पुस्तकों में जैसे *द क्राउड इन द फ्रेंच रिवॉल्यूशन* (1959), *द क्राउड इन हिस्ट्री* (1964) और *आइडियोलॉजी ऐंड पोपुलर प्रोटेस्ट* (1980) में उन्होंने युग को बदलनेवाली घटनाओं में आम जन की भागीदारी की चर्चा की है। उन्होंने प्रभुत्वशाली वर्ग के कार्यों और व्यवहारों का वर्णन नहीं किया। फ्रेडरिक क्रेंज के शब्दों में 'वे शिल्पियों, छोटे दुकानदारों, बुनकरों, मजदूरों और किसानों को समझने का प्रयास करते थे और उनमें छिपी अच्छाई और बुराई का विश्लेषण करते थे। उन्होंने अपने श्रम साध्य और अभिनव अनुसंधान के द्वारा इसे ऐतिहासिक दृष्टि और परिप्रेक्ष्य से देखा और अतीत की पुनर्रचना की'। उन्होंने जनता से संबंधित जो सवाल उठाए वे आम जनता के इतिहास के आधार बने : 'जनता कैसे व्यवहार करती है, उसका निर्माण कैसे होता है, उसे सार्वजनिक कार्यों से किस तरह जोड़ा जाता है, ये क्या पाना चाहते हैं और इन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त करने में कितनी सफलता मिलती है।' उनका मानना था कि जनता स्पंदनयुक्त जीवित प्रणाली होता है जिसकी अलग पहचान, हित, इच्छाएं और आकांक्षाएं होती हैं।

ब्रिटेन में 1920 और 1930 के दशक में इतिहास की कई लोकप्रिय पुस्तकें लिखी गईं जिन्हें वामपंथी बुक क्लब ने प्रकाशित किया। 1940 के दशक में वामपंथी पार्टी ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। जार्ज रूडे, ई.पी. थॉम्पसन, एरिक हॉब्सबॉम, क्रिस्टोफर हिल और जॉन सेविले इस समूह के प्रमुख सदस्य थे। इसी समूह ने 1952 में *पास्ट ऐंड प्रेजेंट* नाम की एक प्रमुख पत्रिका निकाली। बाद में उन्होंने ही लेबर हिस्ट्री रिव्यू प्रकाशित किया। फिर *हिस्ट्री वर्क्सशॉप जरनल* के द्वारा 1976 में इस परम्परा को आगे बढ़ाया गया जिसमें जनता का इतिहास प्रकाशित किया जाता था।

ई.पी. थॉम्पसन ने 1966 में प्रकाशित अपने लेख '*हिस्ट्री फ्रोम बिलो*' (जनोन्मुखी इतिहास) में सबसे पहले इस परम्परा को इतिहास-लेखन का सैद्धांतिक आधार प्रदान किया। जिम शार्प के अनुसार इसके बाद आम आदमी से जुड़े इतिहास की अवधारणा इतिहासकारों के दायरे में प्रविष्ट हुई। थॉम्पसन ने 1963 में *द मेकिंग ऑफ द इंगलिश वर्किंग क्लास* (1963) नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति के दौरान मजदूर वर्गों के नजरिए की पड़ताल की। अपने प्रसिद्ध वक्तव्य में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि वे उन लोगों के विचारों और व्यवहारों को समझना चाहते हैं जिन्हें पिछड़ा माना गया और इसलिए इतिहास के दायरे से बाहर कर दिया गया। उन्होंने लिखा है :

> 'मैं गरीब स्टॉकिंजर, लूडाइट, फसल कटाई करनेवाले, निरर्थक हो चुके हथकरघा बुनकर, आदर्शवादी शिल्पी और यहां तक कि जोयान्ना साउथकॉट, के मोहित अनुयाइयों को भावी पीढ़ी की उपेक्षा से बचाना चाहता हूं। उनके शिल्प और परम्पराएं पिछड़ी दिख सकती हैं, उनकी सामूहिकता सपने की बात लग सकती है, उनके विद्रोह और षडयंत्र मूर्खता का पिटारा लग सकता है परंतु उन्हें जिस सामाजिक अशांति का सामना करना पड़ा वैसा हमने नहीं किया है। उनके अपने अनुभव के अनुसार उनकी आकांक्षाएं सही थीं; और यदि इतिहास ने उनकी उपेक्षा की थी तो वे असल जीवन में भी मौत की जिंदगी जी रहे थे।'

अपने एक प्रसिद्ध लेख 'द मोरल इकोनोमी ऑफ द इंगलिश क्राउड इन द एटीन्थ सेंचुरी' (1971) में थॉम्पसन ने भोजन उपद्रव में शामिल भीड़ के व्यवहार का अध्ययन किया है। उनके अनुसार भोजन उपद्रव जनआंदोलन का एक जटिल रूप है जिसमें लोगों का एक स्पष्ट और तर्कसंगत उद्देश्य होता है।

इसी प्रकार क्रिस्टोफर हिल और एरिक हॉब्सबॉम ने इतिहास के निर्माण में निम्नवर्गों के विचारों और कार्यों के महत्व पर बल देने की बात की है। हिल ने सत्रहवीं शताब्दी के इंगलिश क्रांति के दौरान की परिवर्तनगामी और लोकतांत्रिक विचारधाराओं का अध्ययन किया है।

हिल ने अपनी पुस्तक *द वर्ल्ड टर्न्ड अपसाइड डाउन* (1972) मे यह बताया है कि डिगर्स, लेवेलर्स और रैन्टर्स जैसे आम लोगों के परिवर्तनमूलक आंदोलनों में क्रांति की संभावना छिपी होती है और उनमें 'मौजूदा समाज और इसके मूल्यों' को उलटने की क्षमता होती है। यह आम आदमी का इतिहास है जिसमें परिवर्तनमूलक धार्मिक समूहों की दृष्टि से इतिहास लिखा गया है। इसी प्रकार हॉब्सबॉम ने भी अपनी पुस्तक *लेबरिंग मेन* (1964), *वर्ल्ड्स ऑफ लेबर* (1984), *प्रिमिटिव रेबेल्स* (1959) और *बैंडिट्स* (1969) में आधुनिक मजदूरों और पूर्व-औद्योगिक किसानों के विचारों और व्यवहारों पर विस्तार से लिखा है और जॉन फोस्टर की *क्लास स्ट्रगल ऐंड इंडस्ट्रियल रिवॉल्यूशन* (1974), और रैफेल सैम्यूल की *थियेटर्स ऑफ मेमोरी* (1994) ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया है। अमेरिका में यूजीन जेनोवेज और हरबर्ट गटमैन की दासों पर लिखी पुस्तकें इसी परम्परा की कड़ियां है।

हालांकि अधिकांश मार्क्सवादी इतिहासकारों ने बीसवीं शताब्दी में आम लोगों से जुड़े इतिहास-लेखन को प्रभावित किया, कई और इतिहासकार इस प्रवृत्ति और परम्परा से प्रभावित थे। *अनाल* विचारधारा के इतिहासकार के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। *अनाल* के संस्थापक माक्र ब्लॉक और लूसिएं फेबव्र ने जन मानसिकता को उजागर करने की दिशा में कार्य किया। ब्लॉक ने अपनी प्रख्यात पुस्तक *द रायल टच* (1924) में सामूहिक मनोविज्ञान और जनता के विचार, मानसिकता और मनोविज्ञान का खुलासा किया। ब्लॉक ने अपनी इस पुस्तक में फ्रांसीसी और अंग्रेज सम्राटों की जादुई शक्तियों के प्रति जनमानस में बैठे विश्वास की चर्चा करते हुए यह बताया है कि कैसे वहां के लोगों में यह विश्वास था कि सम्राट यदि रोगी का स्पर्श कर ले तो उसके रोग दूर हो जाएंगे। इसी मान्यता के आधार पर राजशाही टिकी हुई थी और यही इसकी शक्ति थी। फेबव्र की *मार्टिन लूथर* (1928) और *द प्रोब्लेम्स ऑफ अनबिलिफ इन द 16th सेंचुरी* (1942) मानसिकताओं का ही अध्ययन है। इन कृतियों से प्रभावित होकर भावी पीढ़ी के इतिहासकारों ने मानसिकताओं के इतिहास की दिशा में नए प्रयास किए।

इमैनूअल ले रॉय लादुरी की पुस्तक *मांतेउ: कैथर्स ऐंड कैथोलिक्स इन ए फ्रेंच विलेज, 1294–1324* (1975) इस कड़ी की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है। इसमें मध्ययुगीन पाइरेनियन किसान समुदाय के विचारों और मान्यताओं का अध्ययन किया गया है और इससे आम आदमी के जीवन और विभिन्न कार्यकलापों के संबंध में नई जानकारियां मिलती हैं। एक छोटे समुदाय की सोच और मान्यताओं को खोज निकालने के लिए लादुरी ने कैथोलिक चर्च के दस्तावेजों को अपने आधारभूत स्रोत सामग्री के रूप में इस्तेमाल किया।

इसी परम्परा की एक और महत्वपूर्ण पुस्तक कार्लो गिंज़बर्ग की *द चीज ऐंड द वार्म्स* (1976) है। हालांकि यह *अनाल* खेमे से बाहर के लेखक हैं। इस पुस्तक में लेखक ने डोमेनिको स्कैन्डेला (इन्हें मेनोचियो के नाम से भी जाना जाता था) नामक मिलर के व्यक्तिगत जीवन, उसकी बौद्धिक और आध्यात्मिक दुनिया का अध्ययन किया है। चर्च विरोधी मान्यताओं के लिए उस पर मुकदमा चलाया गया और 1600 में उसे फांसी दे दी गई। गिंज़बर्ग ने अपने

इस अध्ययन के लिए इस मुकदमे के दस्तावेजों के अध्ययन आधार स्रोत सामग्री के रूप में इस्तेमाल किया। उन्हें मालूम था कि पूर्व-आधुनिक युग के निचले तबकों के समूहों और व्यक्तियों की दुनिया की पुनर्रचना करने में कई आधारमूलक और प्रविधिमूलक समस्याएं हैं। फिर भी उनका मानना है कि संभव है कि कोई स्रोत वस्तुगत नहीं हैं और न ही यह कोई फिहरिश्त है। इसके बावजूद यह अनुपयोगी नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि छोटे से छोटे, बिखरे और बेकार दस्तावेज का भी बेहतर इस्तेमाल किया जा सकता है। गिंज़बर्ग की अन्य पुस्तकों *द नाइट बैटल्सः विचक्राफ्ट ऐंड एग्रेरियन कल्ट्स इन द सिक्सटीन्थ ऐंड सेवेनटीन्थ सेंचुरीज* (1966) और *एक्सटैसिज : डेसिफेरिंग द विचेज' सब्बाथ* (1989) में भी जनोन्मुखी इतिहास की परम्परा को मजबूत किया गया है। जियोवानी लेवी और गिंजबर्ग द्वारा लिखे गए इतिहास ने इतिहास-लेखन की परम्परा में एक नई प्रवृत्ति की शुरुआत की जिसे 'सूक्ष्म इतिहास' कहा जाता है जिसकी चर्चा हम *इकाई 11* में कर चुके हैं। पीटर बर्क की *पोपुलर कल्चर इन अर्ली मॉडर्न यूरोप* (1978), रॉबर्ट डार्टन की *द ग्रेट कैट मैसेकर* नताली जेमन डेविस की *सोसाइटी ऐंड कल्चर इन अर्ली मॉडर्न फ्रांस* (1975) और *द रिटर्न ऑफ मार्टिन ग्यूएर्र* (1983) कुछ ऐसी कृतियां हैं जिनमें जनमानसिकताओं को उजागर किया गया है और वे भी इतिहास-लेखन की जनोन्मुखी परम्परा में पड़ती हैं।

24.3 प्रमुख प्रवृत्तियां

रैफैल सेमूअल के अनुसार 'जनता का इतिहास' का भविष्य उज्ज्वल है और इसमें कई प्रकार के लेखन को शामिल किया जा सकता है। इसमें प्रगति, संस्कृति और तकनीकी मानववाद के विकास को भी शामिल किया गया है। इसके अलावा इसमें और भी कई विषय शामिल किए जा सकते हैं। इसमें एक ओर औजार और औद्योगिकी को शामिल किया जा सकता है तो दूसरी ओर सामाजिक आंदोलन और यहां तक कि पारिवारिक जीवन को भी समेटा जा सकता है। अब कई तरह के इतिहास लिखे जाते हैं जैसे औद्योगिक इतिहास, प्राकृतिक इतिहास, सांस्कृतिक इतिहास आदि। 1900 के दशक में औद्योगिक इतिहास लिखने की परम्परा शुरु हुई। डार्विन से प्रभावित होकर विभिन्न जातियों का तुलनात्मक इतिहास लिखा गया जिसे प्राकृतिक इतिहास कहा गया। इसके अलावा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सांस्कृतिक इतिहास में लोकजीवन का अध्ययन किया गया जिसका नए 'सामाजिक इतिहास' में विशेष रूप से चर्चा होने लगी है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार के इतिहास-लेखन में मार्क्सवादी इतिहासकार सबसे आगे हैं। जार्ज लेफेबव्र से लेकर एरिक हॉब्सबॉम तक और ई. पी. थॉम्पसन से लेकर यूजीन जेनोवेज और हरबर्ट गुटमैन तक ने आम आदमी का इतिहास-लेखन किया है और इन्हीं मार्क्सवादी सामाजिक इतिहासकारों ने इतिहास-लेखन का स्वरूप और प्रविधि निर्धारित की है। उन्होंने सबसे पहले इस नाम का प्रयोग किया और परम्परागत इतिहास-लेखन से इसको अलग किया। थॉम्पसन, हॉब्सबॉम और रैफैल सेमूअल ने इसकी अवधारणा और विषयवस्तु के बारे में लिखा और इसके साथ-साथ इनमें से अधिकांश इतिहासकारों ने इसी के आधार पर इतिहास-लेखन भी किया। इस प्रकार के इतिहास-लेखन में वर्ग संघर्ष को राजनीति का आधार बनाया गया। चाहे लेफेबव्र द्वारा किया गया अठारहवीं शताब्दी का फ्रांसीसी किसान का अध्ययन हो या क्रिस्टोफर हिल द्वारा मध्ययुगीन इंगलिश कृषक वर्ग का या फिर थॉम्पसन, हॉब्सबॉम और जॉन फोस्टर द्वारा उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के मजदूर वर्ग का अध्ययन हो। इन सबमें वर्गों और वर्ग संघर्ष की मौजूदगी हर जगह दिखाई पड़ती है। इन इतिहासकारों ने जनता की भूमिका और अपने जीवन तथा इतिहास को आकार देने में उनकी भूमिका पर बल दिया है। इसमें से कुछ ने खातसौर पर थॉम्पसन और जेनोवेज ने जनता के व्यवहार को समझने के लिए वर्ग की अमूर्त अवधारणा की बजाए जनजीवन के अनुभवों के आधार पर इतिहास लिखा है।

परंतु ऐसा नहीं है कि केवल मार्क्सवादी इतिहासकारों ने ही ऐसा इतिहास लिखा है। मार्क ब्लॉक, लूसिये फेबव्र और इमैनूअल ले रॉय लादुरी जैसे *अनाल* विचारधारा से जुड़े इतिहासकारों ने भी मातहत वर्गों के जीवन और उनकी सोच का अध्ययन किया है। उन्होंने इसे 'मानसिकताओं का इतिहास' का नाम दिया है। इसी से जुड़ा एक और नाम है जिसे नवसंस्कृति इतिहास के नाम से जाना जाता है। ले रॉय लादुरी, रॉबर्ट मैनड्रू और जाक ले गौफ ने 1960 के दशक में इसका विकास किया और ये भी फ्रांस के *अनाल* विचारधारा से जुड़े हुए थे। इस प्रकार के इतिहास-लेखन में इतिहास को लोक जीवन से जोड़ने का प्रयास किया गया और फेबव्र के 'धार्मिक मनोविज्ञान' की आलोचना की गई। इन इतिहासकारों ने इस बात पर बल दिया कि जनता ऊपर या बाहर से आरोपित विचारों का मूक द्रष्टा नहीं होती बल्कि वे अपने संस्कृति का निर्माण खुद करते हैं। कार्लो गिंज़बर्ग, रॉबर्ट डार्नटॉन और नताली ज़ेमन डेविस जैसे कुछ साहित्यकारों जो *अनाल* विचारधारा से नहीं जुड़े हुए थे, को सांस्कृतिक इतिहासकारों की कोटि में रखा जा सकता है। इस प्रकार का सांस्कृतिक इतिहास जनता के विचारों का इतिहास है। यह दृष्टिकोण इस अर्थ में मार्क्सवादी इतिहासकारों से अलग है कि यह किसी वर्ग, आर्थिक या राजनीतिक समूह पर बल नहीं देता है। इसकी बजाए इसमें समुदायों, व्यक्तियों, उनके रोजमर्रा के जीवन, उनके दैनन्दिन कार्यों और त्योहारों और अनुष्ठानों को आधार बनाया जाता है। इस प्रकार के इतिहास-लेखन में राजनीति बिलकुल अनुपस्थित तो नहीं रहती परंतु मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की अपेक्षा यहां उसकी भूमिका कम हो जाती है।

बीसवीं शताब्दी में जनोन्मुखी इतिहास-लेखन में ये दोनों प्रवृत्तियां प्रमुख हैं। एक का जुड़ाव मार्क्सवाद के साथ है, दूसरा मानसिकताओं और संस्कृति का इतिहास है। इसके अलावा इतिहास-लेखन के और भी कई प्रकार हैं। इस प्रकार का इतिहास-लेखन दक्षिणपंथी इतिहासकारों ने भी किया है जिसमें राजनीति का कोई स्थान नहीं है। इसमें भी जनता का इतिहास लिखा गया है परंतु इसमें न तो वर्ग संघर्ष है न विचारों का टकराव और इसमें धार्मिक और नैतिक मूल्यों का बड़ा जोर है। परिवार की संस्था को आदर्शीकृत किया गया है और सामाजिक संबंधों को व्याख्यायित करते हुए यह दिखाया गया है कि इसमें पारम्परिक लेन-देन महत्वपूर्ण है और यह शोषणात्मक नहीं है। रैफैल सैमूअल कहते हैं कि दक्षिणपंथी इतिहासकारों ने जनता का जो इतिहास लिखा उसमें अतीत और अतीत के समुदायों को एक आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया। इस विचारधारा में आधुनिकता का अभाव था जिसमें शहरी जीवन और पूंजीवाद को स्वाभाविक विकास न मानकर बाह्य आरोपित तत्व माना गया था जिसने 'परम्परागत जीवन' के सदियों से चले आ रहे बंधन को छिन्न विछिन्न कर डाला। जी.एम. ट्रेवेलयन की पुस्तक *इंगलिश सोशल हिस्ट्री* (1944) और पीटर लैसलेट की पुस्तक *वर्ल्ड वी हैव लॉस्ट* (1965) इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है।

उदारवादी संस्करण में जनोन्मुखी इतिहास में आधुनिकता, पूंजीवाद और भौतिक प्रगति को महत्वपूर्ण माना गया। इसका स्वर आश्वासन युक्त और भविष्योन्मुखी है। इसमें पूर्व-आधुनिक युग की आलोचना की गई है जिसे वे अंधविश्वास और युद्ध का युग मानते हैं। गिजो, मिगने, थियेरी और फिर बाद में मिशले इस प्रवृत्ति के प्रमुख इतिहास लेखक हैं।

24.4 जनोन्मुखी इतिहास-लेखन की समस्याएं

जनोन्मुखी इतिहास-लेखन के प्रवर्तकों और आलोचकों दोनों ने ही लेखन में आनेवाली कई बाधाओं का जिक्र किया है। सबसे महत्वपूर्ण समस्या इसके स्वरूप और स्रोत की उपलब्धता से सम्बद्ध है। अतीत के अधिकांश दस्तावेजों में शासकीय और दबदबे वाले समूहों के जीवन और कार्यों का उल्लेख मिलता है। जिन दस्तावेजों में साधारण जन का उल्लेख मिलता भी है उसे भी प्रभुत्वशाली वर्ग या उनसे जुड़े वर्गों ने ही तैयार किया है। यह अधिकांशतः प्रशासनिक उद्देश्यों से तैयार किया गया था। मातहत समूहों या आम जन का जिक्र उस

युग में ज्यादा मिलता है जिस युग में उन्होंने शासन के खिलाफ बगावत की हो या विद्रोह की हो। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पहले यूरोप में इस प्रकार के स्रोतों की प्राप्ति पर पाबंदी लगी हुई थी। दुनिया के अन्य भागों, खासतौर पर तीसरी दुनिया के देशों में इस प्रकार की दस्तावेजों की उपलब्धता और भी मुश्किल थी। इसके अलावा जहां ये सारे दस्तावेज प्रभुत्वशाली वर्ग के सदस्यों द्वारा तैयार किए गए थे इसलिए ये दस्तावेज पूर्वाग्रहग्रस्त भी थे और गलत ढंग से इन्हें पेश भी किया गया था। उदाहरण के लिए पुलिस दस्तावेजों में जन उपद्रवों से जुड़ी घटनाओं को बहुत बढ़ाचढ़ाकर लिखा गया है। इसी प्रकार उस क्षेत्र के लोगों की जिंदगी का कोई जिक्र नहीं है जिसका प्रशासनिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं था।

समस्या इसलिए भी जटिल हो जाती है क्योंकि जनता अपने जीवन का ब्योरा नहीं छोड़ती। लोक संस्कृति ज्यादातर मौखिक रूप से जिंदा रहती है लिखित रूप में नही। हॉब्सबॉम का मानना है कि मौखिक परम्परा तथ्यों को हू ब हू संभालकर नहीं रख पाती है। तात्पर्य यह है कि स्मृति दीर्घजीवी नहीं होती और इस विधि से जो कुछ भी थोड़ा बहुत याद रहता है उसकी सीमाएं होती हैं और स्मृति में छिपे तथ्य लगातार बदलते रहते हैं। आम जनता के जीवन के बारे में लिखित दस्तावेज न होने के कारण उनकी भावनाओं और विचारों को जानना बहुत मुश्किल होता है।

दूसरे स्तर पर अवधारणा स्थापित करने की भी समस्या होती है। जनोन्मुखी इतिहास लिखनेवाले लगभग सभी इतिहासकार यह दावा करते हैं कि वे जनता के बारे में लिखते हैं। हालांकि जनता या जन शब्द का अगल-अलग अर्थ प्रस्तुत किया जाता है और कभी-कभी तो इनके बीच अन्तर्विरोध भी होता है। रैफैल सैमूअल का मानना है कि परिवर्तनगामी लोकतांत्रिक या मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार जनता के इतिहास से हमारा तात्पर्य है कि जनता वह है जिसका निर्माण शोषण के संबंधों पर आधारित होता है। लोकवादियों के अनुसार जनता की परिभाषा सांस्कृतिक अंतर्विरोध पर आधारित है और एक अन्य परिभाषा में राजनीतिक शासन से उनका निर्माण होता है। जब जनता के दायरे से कुछ लोगों को निकाला जाता है तो एक तरह की समस्या खड़ी होती है और जटिलता और भी बढ़ जाती है। किसी के अनुसार सर्वहारा ही जन है तो कोई कृषक वर्ग को जन में शामिल करता है। जर्मन रोमांटिक विद्वान हर्डर शहरी जनता को जन में शामिल नहीं करते। उनके और उनके अनुयाइयों के अनुसार कृषक वर्ग ही जन में शामिल हो सकते हैं जो प्रकृति के गोद में पलते और बढ़ते हैं और जो मासूम होते हैं। कभी-कभी इसमें नस्लवादी विचार भी समाहित होने लगता है जिसमें दूसरे भाषा भाषियों या धर्मावलम्बियों को वास्तविक जन में शामिल नहीं किया जाता है। वामपंथी दृष्टि में यह अलगाव एक अलग तरीके का है। ब्रिटिश मार्क्सवादी इतिहासकारों के इतिहास की प्रशंसा करते हुए पीटर बर्क लिखते हैं:

> 'एडवर्ड थॉम्पसन ने अपनी कृति *मेकिंग ऑफ द इंगलिश वर्किंग क्लास* में टोरी अर्थात् रूढ़िवादी मजदूरों को जन के दायरे से बाहर कर दिया है। क्रिस्टोफर हिल के *द वर्ल्ड टर्न्ड अपसाइड डाउन* में परिवर्तनगामी विचारों और जनता के विचारों की बारी-बारी से चर्चा की है ताकि असजग पाठक इन दोनों को एक दूसरे का पर्याय समझने लगे। सत्रहवीं शताब्दी के इंगलैंड में सभी साधारण जन परिवर्तनगामी नहीं थे और सभी परिवर्तनगामी साधारण जन नहीं थे।'

जनोन्मुखी इतिहास की आलोचना इस बात के लिए भी की गई है कि इसमें सैद्धांतिक मुद्दों की चर्चा नहीं की गई है और जन को समानीकृत और आदर्शीकृत करने का प्रयास किया गया है। खानों में बांटकर देखने की इसकी दृष्टि के कारण इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया गया है कि औद्योगिक संबंधों पर संस्थागत प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा गुणात्मक विश्लेषण की नजरअंदाजी और आख्यान पर जरूरत से ज्यादा बल देने की भी आलोचना की गई है।

24.5 भारतीय संदर्भ

उपर्युक्त विवेचित अवधारणात्मक समस्याओं के अलावा प्रासंगिक संदर्भों की अनुपस्थिति भारत में जनोन्मुखी इतिहास-लेखन की एक प्रमुख समस्या है। निम्न वर्ग के बारे में जो कुछ भी लिखा मिलता है वह अधिकांश समाज के दूसरे स्तर के व्यक्तियों द्वारा लिखा गया है। उन विकसित देशों में भी प्रासंगिक स्रोत की समस्या है जहां मजदूर वर्ग अपेक्षाकृत ज्यादा संख्या में साक्षर थे। वहां भी किसानों और पूर्व-औद्योगिक समूहों से जुड़े स्रोत शासकों द्वारा ही तैयार किए गए थे। भारत में आम जनता, जिसमें औद्योगिक मजदूर वर्ग भी शामिल थे, शिक्षित नहीं थी। इसलिए प्रत्यक्ष स्रोत मुश्किल से ही मिल पाते हैं। इस स्थिति में इतिहासकार अप्रत्यक्ष स्रोतों के आधार पर जनोन्मुखी इतिहास लिखने का प्रयास करते हैं। सब्यसाची भट्टाचार्य के अनुसार 'साक्षरता के अभाव के कारण उनके आचरण और व्यवहार, विचार और भावना संबंधी सूचनाओं (ये भी हू ब हू नहीं मिलते), मौखिक प्रमाणों (अदालत की कार्यवाइयों से जुड़े दस्तावेजों में इनका सर्वोत्तम रूप मिलता है) आदि के आधार पर ज्यादा निर्भर रहना पड़ता है और उन्हीं से निष्कर्ष निकालना पड़ता है'। मौखिक परम्पराओं की भी अपनी समस्याएं हैं और उन्हें बहुत दूर तक नहीं खींचा जा सकता और स्मृतियों पर बहुत भरोसा भी नहीं किया जा सकता। जनोन्मुखी इतिहास लिखनेवाले इतिहासकारों में अग्रणी रंजीत गुहा ने इन समस्याओं का हवाला दिया है जिसके बारे में अगली इकाई में हम विस्तार से पढ़ेगें। गुहा ने अपनी पुस्तक *एलेमेंट्री आसपेक्ट्स ऑफ पीजेन्ट् इनसरजेंसी इन कोलोनियल इंडिया* (1983) में यह लिखा है कि ये दस्तावेज अधिकांशतः संभ्रांत लोगों द्वारा तैयार किए गए हैं जिनकी सहायता से इतिहासकार किसी कृषक आंदोलन के पीछे छिपी मानसिकता को समझने का प्रयास करते हैं:

> 'सभी तो नहीं परंतु अधिकांश दस्तावेजों को संभ्रांत लोगों ने तैयार किया है। यह हमें सरकारी दस्तावेजों के रूप में उपलब्ध है मसलन, पुलिस रिपोर्ट, सेना की चिट्ठी पत्री, प्रशासनिक लेखा, सरकारी विभागों के कार्यवृत्त और उद्घोषणाएं आदि। इस विषय पर हमारी सूचना के जो गैर सरकारी स्रोत हैं जैसे अखबार या शासनाधिकारी के बीच निजी पत्र व्यवहार भी संभ्रांतों की मानसिकता और भाषा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। शासक वर्ग देसी हो या गैर भारतीय इससे कुछ फक्र नहीं पड़ता।'

इन संभ्रांतीय पूर्वाग्रहों को दूर करने के लिए लोक परम्पराओं के उपयोग की बात की जाती है। परंतु गुहा के अनुसार 'हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोक परम्पराएं भी पर्याप्त मात्रा में और गुणात्मक रूप में उपलब्ध नहीं हैं'। इसके अलावा 'कृषक आंदोलन के बारे में जो लोक कथाएं मिलती हैं उनमें भी संभ्रांतीय पूर्वाग्रह दिखाई पड़ता है'। गुहा का यह सुझाव है कि आंदोलनकारियों की चेतना को पकड़ने के लिए इन्हें पैनी निगाहों से देखना होगा। प्रमाणों की छानबीन बड़ी ही सावधानी से करनी होगी और उसमें विद्रोही चेतना और तत्व को सावधानी से खोज निकालना होगा।

सुमित सरकार का यह मानना है कि प्रमाणों की अनुपलब्धता के कारण और भी गहरे हैं। निम्न वर्गों के हाशिए पर चले जाने की बात करते हुए वे कहते हैं:

> 'औपनिवेशिक भारत में अपेक्षाकृत जनान्दोलनों की तीव्रता में कमी जनोन्मुखी इतिहास के न लिखे जा पाने की सबसे बड़ी वजह थी। यह स्थापित करना भी ठीक नहीं होगा कि भारतीय किसान निष्क्रिय नहीं थे और वे लगातार आंदोलन और विरोध करते आ रहे थे। कहने का तात्पर्य यह कि 'निम्नवर्ग' ज्यादातर समय अधीनता के शिकंजे में जकड़े रहे। भयंकर गरीबी और लगातार उकसाए जाने के बावजूद उनका निष्क्रिय रहना अजूबा लगता है। राजनीतिक रूप से सक्रिय होने के बावजूद अन्ततः सामाजिक रूप से 'उच्च' लोगों के अधीन रहना ही उनकी नियति बनी।'

भारतीय जनता का इतिहास लिखने में इतिहासकारों को इन बाधाओं का सामना करना पड़ा।

24.5.1 किसान आंदोलनों का इतिहास

बैरिंगटन मूर जुनियर ने अपनी पुस्तक *सोशल ऑरिजिन्स ऑफ डिक्टेटरशिप ऐंड डेमोक्रेसी* (1967) में किसान आंदोलनों का इतिहास लिखा जिसमें उन्होंने भारतीय किसान आंदोलनों की चर्चा की। मूर के अनुसार भारतीय कृषक वर्ग में राजनीतिक चेतना नहीं थी और वे अपनी गरीबी और शोषण के बावजूद तुलनात्मक रूप से दब्बू और विनयशील थे। इसलिए भारत में किसान विद्रोह 'अपेक्षाकृत कम मिलते हैं बावजूद इसके कि आधुनिकीकरण के कारण लगभग चीन की ही तरह किसान लगातार गरीब होते चले गए'। कई इतिहासकारों ने भारतीय किसान के बारे में इस दृष्टि को चुनौती दी। कैथलीन गफ ने अपने लेख 'इंडियन पीजेंट अपराइजिंग' (1974) में औपनिवेशिक काल के दौरान 77 किसान विद्रोहों का उल्लेख किया है। उनका निष्कर्ष है कि छोटे से छोटे आंदोलन में हजारों किसान या तो सक्रिय रूप से सहयोग करते थे या लड़ाई लड़ते थे और इसका सबसे बड़ा रूप '1857-58 का 'भारतीय गदर' है जिसमें सबसे बड़ी संख्या में किसानों ने लड़ाई लड़ी और 500,000 वर्ग मील में अंग्रेज शासन का नामोनिशान मिटा दिया।' रंजीत गुहा ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि इस तरह के 117 वर्षों में 110 से ज्यादा किसान विद्रोहों के उल्लेख मिलते हैं जो रंगपुर *धिंग* से लेकर बिरसा के विद्रोह तक फैले हुए थे। ए. आर. देसाई भी भारतीय किसान के दब्बूपन संबंधी दृष्टिकोण का विरोध करते हैं और कहते हैं कि सम्पूर्ण अंग्रेज युग में और उसके बाद भारतीय ग्रामीण परिदृश्य पर विरोध और विद्रोह छाए रहे और हजारों गांव में बड़े पैमाने पर उग्रवादी संघर्ष जारी रहा जो वर्षों तक चला। अतएव यह स्पष्ट है कि कम से कम अंग्रेज राज में भारतीय किसानों की निष्क्रियता एक भ्रम है और इस भ्रम को दूर करने के लिए कई पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं।

भारतीय किसान आंदोलन के संबंध में कई अध्ययन किए गए हैं। कैथलीन गफ की पुस्तक के अलावा ए. आर. देसाई की (संपा.) *पीजेन्ट स्ट्रगल्स इन इंडिया* (1979) और *एग्रेरियन स्ट्रगल्स इन इंडिया आफ्टर इंडिपेंडेंस* (1986), सुनिल सेन की *पीजेन्ट मुवमेंट्स इन इंडिया–मिड नाइनटीन्थ ऐंड ट्वेन्टीएथ सेंचुरिज* (1982), रंजित गुहा की *एलमेंट्री आसपेक्ट्स ऑफ पीजेट इनसरजेंसी इन कोलोनियल इंडिया* (1983), एरिक स्टोक्स की *द पीजेंट्स ऐंड द राजः स्टडीज इन एग्रेरियन सोसाइटी ऐंड पीजेंट रिबेलियन इन कोलोनियल इंडिया* (1978), और डी.एन. धनागरे की *पीजेंट मुवमेंट्स इन इंडिया,* 1920-1950 (1983) महत्वपूर्ण हैं।

1966 में सुप्रकाश राय की अभूतपूर्व कृति बंगला में प्रकाशित हुई और इसका अंग्रेजी में अनुवाद हुआ *पीजेंट रिवोल्ट्स ऐंड डेमोक्रेटिक स्ट्रगल्स इन इंडिया* (1999) के नाम से। इस पुस्तक में साम्राज्यवादियों और जमींदारों के शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ होनेवाले विद्रोहों को वर्ग संघर्ष के रूप में देखा। मोइनुद्दिन अहमद खान ने अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ द फरायदी मुवमेंट इन बंगाल* (1965) में बंगाल में किसान आंदोलन को मूलतः मुस्लिम भद्रजन के खिलाफ एक धार्मिक आंदोलन के रूप मे व्याख्यायित किया परंतु नरहरी कविराज ने अपनी पुस्तक *ए पीजेंट अपराइजिंग इन बंगाल* (1972) और *वहाबी ऐंड फराजी रेबेल्स ऑफ बंगाल* (1982) में उन्होंने इस मान्यता को खारिज कर दिया और इस विद्रोह के आर्थिक कारकों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उनका निष्कर्ष था कि इस आंदोलन में कृषीय पक्ष साम्प्रदायिक पक्ष पर हावी रहा। ब्लेयर किंग ने अपनी पुस्तक (*द ब्लू म्यूटिन : द इंडिगो डिस्टरबेन्स इन बंगाल 1859-1962* (1966)) में नील विद्रोह का अध्ययन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह एक धर्म निरपेक्ष आंदोलन था जिसमें भारतीय समाज के सभी लोग शामिल हुए थे परंतु रंजित गुहा इस नील विद्रोह को अलग दृष्टि से देखते थे और उनका मानना था कि किसान के विभिन्न समुदायों के बीच अन्तर्विरोध मौजूद था।

किसान आंदोलन से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रीय अध्ययन इस प्रकार हैं: गिरीश मिश्रा के चंपारन आंदोलन से संबंधित पुस्तक *एग्रेरियन प्रोबलेम्स ऑफ परमानेंट सेटलमेंट : मुवमेंट्स*

इन कोलोनियल इंडिया, नॉर्थ बिहार, 1917-1942 (1982); मजिद एच. सिदि्दकी का *एग्रेरियन अनरेस्ट इन नॉर्थ इंडियाः द यूनाइटेड प्रोविन्सेज, 1918-32* (1978) और कपिल कुमार की *पीजेंट्स इन रिवोल्ट : टेनेंट्स, लैंडलॉर्ड्स, कांग्रेस ऐंड द राज इन अवध* (1984)। मालाबार केरल में मोपला विद्रोह पर स्टीफेन डेल, रॉबर्ट हार्डग्रेव, सुखबीर चौधरी और कॉनरैड वूड की पुस्तकें। इसके अलावा भारत के अन्य हिस्सों में हुए किसान आंदोलनों पर भी कई पुस्तकें लिखी गई हैं।

24.5.2 मजदूर आंदोलनों का इतिहास

पच्चीस वर्ष पहले तक भारतीय श्रमिकों का इतिहास मजदूर संघ के इतिहास का ही एक अंग था। 1982 में लिखते हुए सब्यसाची भट्टाचार्य ने टिप्पणी की थी कि अभी तक हमारे श्रम इतिहास से संबंधित सबसे ज्यादा पुस्तकें मजदूर आंदोलन पर लिखी गई हैं। इसके अलावा मजदूरों को एक आर्थिक इकाई के रूप में देखा गया जिसमें उनके सामाजिक सांस्कृतिक अस्तित्व को शामिल नहीं किया गया है। 1980 के दशक के बाद से इस स्थिति में परिवर्तन होने लगा। इस क्षेत्र में कई अध्ययन किए गए जिसमें मजदूर वर्ग के इतिहास को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा गया। यह सही है कि मजदूर संघ मजदूर वर्ग की गतिविधियों को एक बेहद संगठित रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं परंतु मजदूर संघ मजदूरों के संगठित होने का केवल एक रूप है। दूसरी ओर मजदूर आंदोलन एक व्यापक मंच प्रदान करता है और इसमें हर प्रकार के मजदूरों की लामबंदी की बात शामिल होती हैं। हाल के अध्ययनों से यह पता चला है कि केवल आर्थिक प्रेरणा ही मजदूर वर्ग के कार्यों का एकमात्र निर्धारक तत्व नहीं हैं। मजदूर वर्ग और इसके आंदोलनों का निर्माण विभिन्न स्रोतों से होता है जिसमें सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक पक्ष आर्थिक पक्ष की तरह ही महत्वपूर्ण होते हैं। तीसरी बात यह कि मजदूर संघों का अध्ययन करते समय मुख्य रूप से औद्योगिक मजदूरों का ही अध्ययन किया जाता है जो कि सम्पूर्ण मजदूर वर्ग का एक छोटा सा हिस्सा है। ग्रामीण मजदूर, असंठित क्षेत्र में काम करनेवाले शहरी मजदूर और सेवा क्षेत्र में काम करनेवाले मजदूर भी मजदूर ही होते हैं। इसके अलावा मजदूरों, नियोक्ताओं, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं और सरकारी अधिकारियों से संबंधित समस्याएं, दृष्टिकोण, विचार और व्यवहार तथा जेंडर (स्त्री-पुरुष) संबंधित सवाल भी सामने आ रहे हैं।

इस बदलते परिदृश्य पर भी कई लोगों ने अध्ययन किया है जिनमें प्रमुख हैंः ई. डी. मरफी का 'क्लास ऐंड कमयूनिटी इन इंडियाः द मद्रास लेबर यूनियन, 1918-21' और *यूनियन्स इन कनफ्लिक्टः ए कॉम्परेटिव स्टडी ऑफ फोर साउथ इंडियन टेक्सटाइल सेंटर्स, 1918-1939* (1981), आर.के.न्यूमैन का *वर्क्र्स ऐंड यूनियन्स इन बाम्बे, 1918-29ः ए स्टडी ऑफ आर्गनाइजेशन इन द कॉटन मिल्स* (1981), एस. भट्टाचार्य का 'कैपिटल ऐंड लेबर इन बाम्बे सिटी, 1928-29, दीपेश चक्रवर्ती का *रीथिंकिंग वर्किंग-क्लास हिस्ट्रीः बंगाल, 1890-1940* (1989), राजनारायन चंदवरकर का *द ऑरिजन्स ऑफ इंडस्ट्रीयल कैपिटलिज्म इन इंडियाः बिजनेस स्ट्रैटेजी ऐंड वर्किंग क्लासेस इन बाम्बे 1900-40* (1994), जानकी नायर की *माइनस ऐंड मिलहैन्ड्स : वर्क, कल्चर ऐंड पॉलिटिक्स इन प्रिंसली मैसूर* (1998), समिता सेन, *विमेन ऐंड लेबर इन लेट कोलोनियल इंडिया : द बंगाल जूट इंडस्ट्री* (1999), और नंदिनी गूप्तु की *द पौलिटिक्स ऑफ द अरबन पूअर इन द अर्ली ट्वेन्टीएथ सेंचुरी इंडिया* (2001)।

24.5.3 जनजातीय आंदोलनों का इतिहास

कई विद्धानों ने जनजातीय आंदोलनों को किसान आंदोलन का हिस्सा माना है। इसका कारण यह है कि कई वर्षों तक कबीलाई समाज और अर्थव्यवस्था को किसानों और कबीलों के कृषीय समस्याओं को किसानों की समस्या के रूप में ही देखा जाता रहा है। कैथलीन गफ, ए. आर. देसाई और रंजीत गुहा ने जनजातीय आंदोलनों पर इसी ढंग से विचार किया है। इसके अलावा घनश्याम शाह, अशोक उपाध्याय और जगनाथ पाथी जैसे

कई विद्वानों ने कबीलाई समाज और अर्थव्यवस्था में होनेवाले उन परिवर्तनों की ओर इशारा किया जिसने उन्हें गैर जनजातीय किसानों की दिशा में धकेल दिया है। परंतु इस क्षेत्र के एक प्रमुख विद्वान के. एस. सिंह का मानना है कि यह दृष्टि ठीक नहीं है क्योंकि इसमें जनजातीय सामाजिक संघटन की विविधताओं को नजरअंदाज किया जाता है जो जनजातीय आंदोलनों के अभिन्न अंग हैं। इनका एक सांस्कृतिक पक्ष है। सिंह कबीलाइयों के आर्थिक मांग की अपेक्षा उनके सामाजिक संगठन पर विशेष बल देते हैं। उनका मानना है किः

> 'एक ओर जहां किसान आंदोलन पूर्णतः कृषीय था क्योंकि किसान जमीन से अनाज उगाकर ही अपना जीवनयापन करता था जबकि जनजातीय आंदोलन का संबंध कृषि से भी था और जंगल से भी क्योंकि जंगल पर आश्रित रहकर ही वे जमीन से जुड़े रह सकते थे। इसका एक जातीय पक्ष भी था। कबीलों ने जमींदारों, महाजनों और छोटे सरकारी अधिकारियों के खिलाफ विद्रोह इसलिए नहीं किया कि वे उनका शोषण किया करते थे बल्कि इसलिए कि वे उनके लिए परदेसी थे।'

इस दृष्टिकोण के विपरीत विद्वानों ने जनजाति वर्गीकरण पर ही प्रश्न उठाया है। उदाहरण के लिए सूसन देवले ने अपनी पुस्तक *डिसकोर्सेस ऑफ एथनिसिटी : कल्चर ऐंड प्रोटेस्ट इन झारखंड* (1992) में यह कहा कि 'जनजाति' श्रेणी भारत में यूरोपीय विद्वानों और औपनिवेशिक अधिकारियों की भारतीय यथार्थ को समझने के लिए बनाई हुई है। आंद्रे बेते का भी मानना है कि कबीलों और किसानों में कई प्रकार की समानताएं हैं इसलिए उन्हें दो अलग-अलग संरचनात्मक प्रकारों के रूप में नहीं देखना चाहिए।

परंतु यह सत्य है कि बीसवीं शताब्दी तक जनजातीय समाजों के एक बड़े हिस्से की कुछ खास विशिष्टताएं थीं जो उन्हें मुख्य धारा के किसान समाजों से अलग करती थीं। पहली बात यह कि किसानों की अपेक्षा जनजातीय समाजों में सामाजिक और आर्थिक विभेद कम थे। दूसरे वन पर कबीलों की निर्भरता भी किसानों से उन्हें अलग करती थी जिनका जीवनयापन जमीन से जुड़ा था। तीसरे जनजातीय सामाजिक संगठन और कबीलों के एक खास इलाके में संकेंद्रित रहने के कारण वे अन्य समुदायों और समाजों से कट जाते हैं और अलग-अलग रहते हैं। इन वजहों से वे औपनिवेशिक शासन द्वारा लाए गए परिवर्तनों से अपेक्षाकृत ज्यादा भड़क उठे और उन्होंने विद्रोह किया और उनके विद्रोह में उग्रता की मात्रा ज्यादा थी।

कबीलों के बारे में औपनिवेशिक प्रशासकों ने सबसे पहले लिखा। औपनिवेशिक हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप कबीलाई विद्रोहों के कारण उनकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और उन पर लिखा गया। बेहतर प्रशासन के लिए कबीलाई समाजों को समझने के लिए पहले पहल उनके बारे में लिखा गया। डब्ल्यू.डब्ल्यू. हन्टर की *एनेल्स ऑफ रूरल बंगाल* (1868), ई. टी. डाल्टन की *डिसक्रिप्टिव एथनोलॉजी ऑफ बंगाल* (1872), और एच.एच. रिज़ले की *ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ बंगाल* (1891) कुछ आरंभिक कृतियां हैं जिनमें जनजातीय समाज का वर्णन मिलता है। कालीकिंकर दत्त का *संथाल इनसरेक्शन* (1940) किसी भारतीय द्वारा लिए गए प्रारम्भिक पुस्तकों में से है। दत्त के अनुसार बाहरी व्यक्तियों द्वारा दमन और शोषण इन विद्रोहों का सबसे प्रमुख कारण था। उनके तीन विद्यार्थियों ने भी छोटानागपुर क्षेत्र के कबीलों का अध्ययन किया। जे.सी.झा का *द कोल इनसरेक्शन ऑफ छोटानागपुर* (1964), एस.पी.सिन्हा की *लाइफ ऐंड टाइम्स ऑफ बिरसा भगवान* (1964) और के.एस.सिंह *द डस्ट स्टार्म ऐंड द हैंगिंग मिस्टः ए स्टडी ऑफ बिरसा मुंडा ऐंड हिज मुवमेंट इन छोटानागपुर 1874 - 1901* (1966) इन विषयों पर लिखी गई प्रमुख कृतियां हैं। के. एस. सिंह ने तीन खंडों में *ट्राइबल मुवमेंट्स ऑफ इंडिया* (1982,1983 और 1998) का संपादन किया। इन पुस्तकों में अखिल भारतीय स्तर पर विचार किया गया है। जॉन मैकडुगल की *लैंड ऑर रेलिजन? द सरदार ऐंड खेरवार मुवमेंट्स इन बिहार, 1858-95* (1985), डी.एम.प्राहराज की *ट्राइबल मुवमेंट ऐंड पोलिटिकल हिस्ट्री इन इंडिया : ए केस स्टडी फ्रोम उड़ीसा, 1803-1949* (1988), डेविड हार्डिमैन की *द कमिंग ऑफ*

द देवी : आदिवासी एसर्शन इन वेस्टर्न इंडिया (1987), डेविड आर्नोल्ड का गुडेम-रम्पा विद्रोह पर लेख, एस.आर. भट्टाचार्जी की *ट्राइबल इनसरजेंसी इन त्रिपुरा: ए स्टडी इन एक्सप्लोरेशन ऑफ कॉजेज* (1989) प्रमुख कृतियां हैं जिनमें क्षेत्रों के आधार पर अध्ययन किया गया है।

24.6 सारांश

इस इकाई में हमने जनोन्मुखी इतिहास-लेखन की परम्परा की चर्चा की है जिसमें इतिहास-लेखन में आम व्यक्ति के नजरिए को केंद्र में रखा जाता है। यह डिजरेली की उस धारणा से बिलकुल अलग तरह का इतिहास-लेखन है जिसमें इतिहास को महान पुरुषों की जीवनी माना जाता है। जनोन्मुखी इतिहास में आम जनता के जीवन और कार्यकलापों पर विचार होता है जिनकी आमतौर पर परम्परागत इतिहासकार अवहेलना कर देते हैं। इसके अलावा इसमें उनके विचारों को भी यथासंभव शामिल करने का प्रयास किया जाता है। इस दिशा में इतिहासकारों को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है क्योंकि सारे स्रोत शासकों, प्रशासकों और प्रभुत्वशाली वर्ग के पक्ष में दिखाई देते हैं। भारत जैसे देश में जनता के अशिक्षित होने के कारण यह समस्या और भी विकट हो गई। इन बाधाओं के बावजूद सामाजिक इतिहासकारों ने आम जनता को हाशिए से खींचकर केन्द्र में लाने का भरसक प्रयत्न किया है।

24.7 अभ्यास

1) जनोन्मुखी इतिहास से आप क्या समझते हैं ? इसके आंरभ और विकास पर चर्चा कीजिए।

2) भारत के इतिहास-लेखन के संदर्भ में जनोन्मुखी इतिहास-लेखन पर टिप्पणी लिखिए।

3) जन इतिहास-लेखन की प्रमुख प्रवृत्तियां बताइए।

4) जनोन्मुखी इतिहास-लेखन से जुड़ी प्रमुख समस्याएं क्या हैं ?

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रैफैल सैमूअल, 'पीपुल्स हिस्ट्री,' रैफैल सैमूअल (संपा.), *पीपुल्स हिस्ट्री ऐंड सोसलिस्ट थ्योरी* (लंदन, राउटलेज ऐंड केगेन पॉल, 1981)।

जिम शार्प, 'हिस्ट्री फ्रोम बिलो,' पीटर ब्रुक (संपा.) *न्यू पर्सपेक्टिव ऑन हिस्टोरिकल राइटिंग* (पोलिटी प्रेस, कैम्बिज, 1991, 2001)।

एरिक हॉब्सबॉम, 'ऑन हिस्ट्री फ्रोम बिलो', एरिक हॉब्सबॉम, *ऑन हिस्ट्री* (लंदन, वाइडेनफेल्ड ऐंड निकोलसन, 1997)।

मैट पेरी, 'हिस्ट्री फ्रोम बिलो', केली ब्याएड (संपा.) *इनसाइक्लोपिडिया ऑफ हिस्टोरियन्स ऐंड हिस्टोरिकल राइटिंग,* 2 खंड (शिकागो, फिटज़रॉय डियरबॉर्न पब्लिशर्स 1999)।

पीटर ब्रुक, 'पीपुल्स हिस्ट्री ऑर टोटल हिस्ट्री', रैफैल सैमूअल (संपा.) *पीपुल्स हिस्ट्री ऐंड सोसलिस्ट थ्योरी* (लंदन, राउटलेज ऐंड केगेन पॉल, 1981)।

फ्रेडरिक क्रेज, *'हिस्ट्री फ्रोम बिलो': स्टडीज इन पोपुलर प्रोटेस्ट ऐंड पोपुलर आइडियोलॉजी* (ऑक्सफोर्ड, न्यू याक्र, बासील ब्लैकवेल, 1985,1988)।

जार्ज जी. इगर्स, *हिस्टोग्राफी इन द ट्वेन्टीएथ सेंचुरी : फ्रोम साइन्टिफिक ऑबजेक्टिविटी टू द पोस्टमॉडर्न चैलेंज* (हैनोवर ऐंड लंदन, वेसलियम यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997)।

जर्मी ब्लैक ऐंड डोनाल्ड एम.मैकरेल्ड, *स्टडींग हिस्ट्री* (लंदन, मैकमिलन, 1997-2000)।

सब्यसाची भट्टाचार्य, '*प्रेसिडेंशियल एड्रेस*, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1982।

घनश्याम शाह, *सोशल मुवमेंट्स इन इंडियाः ए रिव्यू ऑफ लिट्रेचर* (नई दिल्ली, सेज, 2004)।

रंजीत गुहा, *एलिमेंट्री आसपेक्ट्स ऑफ पीजेंट इनसरजेंसी इन कोलोनियल इंडिया* (दिल्ली, ओयूपी, 1983)।

सुमित सरकार, *'पोपुलर' मुवमेंट्स ऐंड मिडल क्लास' लिडरशीप इन लेट कोलोनियल इंडिया पर्सपेक्टिव ऐंड प्रोब्लेम्स ऑफ ए 'हिस्ट्री फ्रोम बिलो'* (कलकत्ता, के.पी. बागची ऐंड कम्पनी, 1983, 1985)।

संयुक्ता दास गुप्ता, 'पीजेंट ऐंड ट्राइबल मुवमेंट्स इन कोलोनिकल बंगाल : ए हिस्टोग्राफिक ओवरव्यू', शेखर बंदोपाध्याय (संपा.), *बंगाल : रीथिंकिंग हिस्ट्री* (दिल्ली, मनोहर, 2001)।

इकाई 25 निम्नवर्गीय प्रसंग (सबाल्टर्न स्टडीज)

इकाई की रूपरेखा

25.1 प्रस्तावना

रंजीत गुहा 'निम्नवर्गीय प्रसंग' यानी सबाल्टर्न स्टडीज के जनक माने जाते हैं। उनके सम्पादकत्व में निकले कई खंडों को यही नाम दिया गया। उन्होंने *निम्नवर्गीय प्रसंग* के पहले छह खंडों का संपादन किया। अगले पांच खंडों का संपादन इस परियोजना से जुड़े अन्य विद्वानों ने किया। आरंभ से ही *निम्नवर्गीय प्रसंग* की आधारभूत धारणा यह थी कि भारतीय इतिहास-लेखन की समस्या अभी तक संभ्रांतीय पूर्वाग्रह से ग्रस्त थी। निम्नवर्गीय अध्ययन से जुड़े इतिहासकारों ने यह घोषणा की थी कि वे जनता के नजरिए से इतिहास लिखकर इतिहास को सही दिशा में मोड़ने का प्रयास करेंगे। इस इकाई में हम *निम्नवर्गीय प्रसंग* से जुड़े लेखकों के विभिन्न दृष्टिकोणों की चर्चा करेंगे और इसके साथ ही साथ भारतीय अध्ययन के दूसरे क्षेत्रों से जुड़े इतिहासकारों और विद्वानों की आलोचना पर भी विचार किया जाएगा।

25.2 विचार का आरंभ

निम्नवर्गीय प्रसंग के प्रणेताओं ने इसे भारतीय इतिहास-लेखन के क्षेत्र में एक नई विचारधारा के रूप में प्रतिस्थापित किया। इससे जुड़े कुछ इतिहासकारों ने इसे भारतीय इतिहास-लेखन की परम्परा में एक नई शुरुआत मानी। भारतीय इतिहास-लेखन की परम्परा से असंतुष्ट लेखकों ने सामूहिक रूप से कुछ खंडों का प्रकाशन किया। हालांकि इसमें हम *निम्नवर्गीय प्रसंग* से सामूहिक रूप में और औपचारिक रूप से नहीं जुड़े रहने के बावजूद कुछ इतिहासकारों और अन्य सामाजिक विज्ञानियों ने भी अपना योगदान दिया। *निम्नवर्गीय प्रसंग* की पुस्तकों में लेखों के प्रकाशन के साथ-साथ इन लेखकों ने कई अन्य पत्रिका और संपादित पुस्तकों में भी अपने आलेख लिखे और पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं जिसे आज निम्नवर्गीय प्रसंग के विषयों और प्रविधियों से जोड़कर देखा जाता है। रंजीत गुहा के कथनानुसार इसे 'हाशिए के शिक्षाविदों' की मदद से आरंभ किए गए *निम्नवर्गीय प्रसंग* ने जल्द ही भारत के भीतर और बाहर ख्याति अर्जित की और *निम्नवर्गीय प्रसंग* के विषयों पर गहन अनुसंधान आरंभ हुआ। आरंभ में तीन खंड निकालने की योजना थी, अब इसके तहत बतौर परियोजना ग्यारह खंड प्रकाशित हो चुके हैं। इन खंडों के अतिरिक्त रंजीत गुहा ने अंतरराष्ट्रीय पाठकों के लिए पूर्व

प्रकाशित खंडों से छांटकर एक पुस्तक संपादित की है। *निम्नवर्गीय प्रसंग* के हाल में प्रकाशित कुछ खंडों में गैर-भारतीय तीसरी दुनिया के देशों को भी शामिल किया गया है।

सबाल्टर्न स्टडीज (निम्नवर्गीय प्रसंग) शब्द का इतिहास जरा लम्बा है। सबसे पहले इस शब्द का प्रयोग मध्यकाल में इंगलैंड में कृषि दासों और कृषकों के लिए किया गया। बाद में 1700 से सेना में छोटे पदों के लिए इसका प्रयोग होने लगा। इतालवी मार्क्सवादी और साम्यवादी दल के नेता एंटोनियो ग्रामशी (1891-1937) ने अपनी कृतियों मे इसका व्यापक संदर्भ में उपयोग किया और इसके बाद विद्वद्जगत में इसका तेजी से इस्तेमाल होने लगा। ग्रामशी ने आमतौर पर इस शब्द का उपयोग वर्ग के व्यापक संदर्भ में किया। उस समय वे जेल में थे और जेल प्रशासन से बचने के लिए उन्होंने इस शब्द का इस्तेमाल किया था क्योंकि उनके लेखन के एक-एक शब्द की जांच की जाती थी। ग्रामशी ने इस शब्द का प्रयोग समाज के निम्नवर्गीय समूह के लिए किया। उनके अनुसार निम्नवर्गीय समूहों का इतिहास हमेशा शासकीय समूह से जुड़ा होता है। इसके अलावा यह इतिहास आमतौर पर खंड-खंड में विभाजित होता है।

हालांकि रंजीत गुहा ने *निम्नवर्गीय प्रसंग* की भूमिका में इस शब्द के उपयोग के संदर्भ में ग्रामशी का हवाला नहीं दिया है परंतु उन्होंने ग्रामशी को प्रेरणा स्रोत अवश्य माना है। उन्होंने *कन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी* में दिए गए अर्थ के अनुसार इसे परिभाषित किया है :

> 'सबाल्टर्न' (निम्नवर्गीय) शब्द का अर्थ *कन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी* से लिया गया है जिसका अर्थ है 'छोटा पद'। हम इसका उपयोग दक्षिण एशियाई समाज के मातहत वर्ग के लिए कर रहे हैं जहां यह वर्ग, जाति, उम्र, लैंगिक भेदभाव (जेंडर) और पद या दूसरे रूप में सामने आता है।

आगे चलकर इस खंड के शुरुआती लेख के अंत में उन्होंने फिर इस शब्द को स्पष्ट किया है:

> 'इस लेख में 'जन' और 'निम्नवर्गीय' का एक दूसरे के पर्याय के रूप में इस्तेमाल किया गया है। इस श्रेणी में शामिल समूह और तत्व संभ्रांत समाज और समूह से बिलकुल अलग हैं।'

सबाल्टर्न इतिहासकारों ने इस शब्द का प्रयोग ग्रामशी से बिलकुल अलग अर्थों में किया है। निम्नवर्गीय समूहों की अधीनस्थता को स्वीकार करते हुए भी वे इस बात पर बल देते हैं कि उनका इतिहास प्रभुत्वशाली वर्ग से अलग और स्वायत्त था।

25.3 परियोजना का विकास

अब यह स्पष्ट है कि निम्नवर्गीय प्रसंग की पूरी अवधि को दो चरणों में विभक्त किया जा सकता है। पहले चरण में निम्नलिखित कार्य किए गए :

क) निम्न वर्ग अर्थात निचले और शोषित वर्गों के प्रति सरोकार;

ख) संभ्रांतों यानी शोषक वर्ग की आलोचना;

ग) ग्रामशी के चिंतन और मार्क्सवादी सामाजिक इतिहास का प्रभाव और बृहद मार्क्सवादी सिद्धांत के भीतर काम करने का प्रयत्न।

दूसरे चरण में सरोकार बदले जो इस प्रकार हैं :

क) इस चरण में पाठ विश्लेषण पर विशेष जोर दिया गया। अब केवल शोषित लोगों के इतिहास की खोज नहीं की जाती रही। इस चरण में संभ्रांत विमर्शों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया। ख) मिशेल फूको, एडवर्ड सईद, और अन्य उत्तर आधुनिकतावादियों तथा उत्तर उपनिवेशवादियों के पक्ष में मार्क्स और ग्रामशी को दरकिनार कर दिया गया।

25.3.1 पहला चरणः संभ्रांत बनाम निम्नवर्गीय

निम्नवर्गीय प्रसंग ने भारतीय इतिहास के संदर्भ में हुए इतिहास-लेखन को एक नया व्यक्तित्व प्रदान किया। आरंभ में इसके तीन खंड तैयार करने की योजना बनी जिसका संपादन इसके प्रणेता रंजीत गुहा को करना था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचार ग्रामशी के चिंतन से प्रभावित था। इसमें खासतौर पर मार्क्सवाद के आर्थिक पक्ष पर बल दिए जानेवाले सिद्धांत के साथ-साथ बुर्जुआ राष्ट्रवादी संभ्रांत व्याख्या और उपनिवेशवादी विवेचन से अलग हटकर एक नई व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। भारतीय इतिहास-लेखन की परम्परा से असंतुष्ट एक लेखक समूह ने सामूहिक रूप से इन पुस्तकों के लिए लेख लिखे। यही नहीं इसमें ऐसे भी इतिहासकार और समाजविज्ञानी शामिल हुए जो औपचारिक रूप से सबाल्टर्न समूह में सम्मिलित नहीं थे।

हालांकि मूलतः *निम्नवर्गीय प्रसंग* का संबंध भारत से था परंतु यह विचार इंगलैंड में कुछ भारतीय इतिहासकारों के मन में समाया जिनके अगुआ और प्रणेता शक्ति रंजीत गुहा थे। आरंभ से ही भारतीय इतिहास-लेखन की सभी मौजूदा परम्पराओं से अलग इसने अपनी राह बनाई। इस परियोजना के घोषणापत्र में *कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो* की शुरुआती पंक्तियों की झलक मिलती है – 'अभी तक सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है'। रंजीत गुहा ने निम्नवर्गीय प्रसंग के पहले खंड में यह घोषणा की कि 'भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास-लेखन अभी तक संभ्रांतवाद – उपनिवेशवादी संभ्रांतवाद और बुर्जुआ राष्ट्रवाद संभ्रांतवाद – से ग्रसित रहा। यह कहा गया कि दोनों ही प्रकार के इतिहास-लेखन भारत में ब्रिटिश शासन के वैचारिक विमर्श से प्रभावित थे। अनेक मतभेदों के बावजूद कई मामलों में दोनों एक ही ढंग से सोचते थे और सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उनके इतिहास में जनता की राजनीति पूरी तरह से गायब थी। उनके विचार से अब समय आ चुका था कि निम्नवर्गों की दृष्टि से इतिहास देखा जाए और लिखा जाए। यह दृष्टि तथा जनता की राजनीति बहुत ही महत्वपूर्ण थी क्योंकि इसका अपना एक स्वायत्त क्षेत्र था जिसका संबंध न तो संभ्रांत राजनीति से था और न उसका अस्तित्व उस पर आधारित था। जनता की राजनीति संभ्रांतों की राजनीति से कई निर्णायात्मक मामलों में अलग होती है। सबसे पहले यह कि इसकी जड़, जाति, और संबंधों के फैलाव, जनजातीय बंधुत्व, क्षेत्रीयता आदि जैसे परम्परागत जनसंगठनों में होती है। दूसरे, संभ्रांत लामबंदी की प्रकृति उर्ध्व होती है यानी ऊपर से नीचे की ओर जाती है जबकि जनता की लामबंदी क्षैतिज होती है। तीसरे जहां संभ्रांत लामबंदी कानूनी दायरे में बंधी और शांत होती है वहीं निम्नवर्गीय लामबंदी अपेक्षाकृत उग्र होती है। चौथा, संभ्रांत लामबंदी अधिक सतर्क और नियंत्रित होती है जबकि निम्नवर्गीय लामबंदी अचानक उभर आती है अर्थात् स्वतःस्फूर्त होती है।

निम्नवर्गीय प्रसंग जल्द ही जनता के नए इतिहास के रूप में तब्दील हो गया जिसमें सरकारी राष्ट्रवाद के साथ जनता के इतिहास का घालमेल नहीं किया गया। इस प्रकार इसने उन विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जिनका उत्तर औपनिवेशिक राष्ट्र-राज्य द्वारा किए जानेवाले राष्ट्रवादी दावों से मोहभंग हो चुका था। आरंभ में ग्रामशी के सिद्धांत से प्रभावित होकर इसमें प्रताड़ित समूहों की परिवर्तनगामी चेतना को खोजने का प्रयास किया गया। इसे भारतीय इतिहास-लेखन की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों के विरोध में खड़ा किया गया – उपनिवेशवादी, जिन्होंने देश की अज्ञानी जनता को ज्ञान प्रदान करने के लिए औपनिवेशिक शासन को जरूरी माना; राष्ट्रवादी, जिन्होंने जन आंदोलनों को राष्ट्र-राज्य के निर्माण की प्रक्रिया का अंग माना; और मार्क्सवादी, जो जनता के संघर्ष को क्रांति और समाजवादी राज्य की स्थापना के इतिहास में समाहित कर देते थे।

इस परियोजना के कई उद्देश्य थे:

क) कांग्रेस राष्ट्रवाद का बुर्जुआ और संभ्रांत चरित्र दिखाना जिसने लोकहितवादी और परिवर्तनगामी आंदोलनों पर अंकुश लगाया ;

ख) भारतीय/कांग्रेस राष्ट्रवाद के महा आख्यान में जनता के संघर्ष को शामिल किए जाने के कई इतिहासकारों के दावों को चुनौती दी गई; और

ग) निम्नवर्गीय चेतना का निर्माण और इसके स्वायत्ता पर बल दिया गया। निम्नवर्गीय स्रोतों से प्रमाणों की अनुपलब्धता को देखते हुए यह काम बहुत मुश्किल था। इस अभाव को दूर करने के लिए सबाल्टर्न इतिहासकारों ने सरकारी स्रोतों से ही अपने लिए सामग्री निकाली और इसके लिए उन्हें भूसे से अनाज को अलग करना पड़ा।

निम्नवर्गीय प्रसंग की अवधारणा का परिवेश ग्रामशी के विचारों से निर्मित हुआ था। एरिक हॉब्सबॉम, रेमन्ड विलियम्स और स्टुअर्ट हॉल अपने लेखन में ग्रामशी के विचारों को समाहित कर रहे थे। दूसरी ओर, पेरी एन्डर्सन और टॉम नैर्न ग्रामशी की समालोचना प्रस्तुत कर रहे थे। जार्ज लेफेबव्र, क्रिस्टोफर हिल, ई. पी. थॉम्पसन, यूजीन जेनोवेज और अन्य पश्चिमी मार्क्सवादी इतिहासकार जिन्होंने नया सामाजिक इतिहास लिखा था और जिन्होंने जनता के नजरिए पर विचार करने की आवश्यकता का बल दिया था, का भी प्रभाव सबाल्टर्न इतिहास पर पड़ा। इस प्रकार *निम्नवर्गीय प्रसंग* का उद्देश्य दक्षिण एशिया के अध्ययन क्षेत्रों में निम्नवर्गीय विषयों पर व्यवस्थित और सूचना से युक्त विचार विमर्श को आगे बढ़ाना था और इस प्रकार इस खास क्षेत्र में हो रहे अनुसंधान और शैक्षिक कार्यों के संभ्रांतीय पूर्वाग्रहों को दूर करने में मदद करना था। गुहा ने तीसरे खंड की प्रस्तावना में यह लिखा है कि सबाल्टर्न इतिहासकारों ने 'आलोचना के लिए साझा प्रतीकों का इस्तेमाल किया जिसमें दक्षिण एशियाई अध्ययन क्षेत्र में व्याप्त संभ्रांतता की सचेतन और व्यवस्थित रूप से आलोचना की गई।' उन्होंने पुनः इस बात पर बल दिया है कि संभ्रांतीय मानसिकता का विरोध निम्नवर्गीय परियोजना की एकता का आधार है:

> 'इतिहास-लेखन और समाज विज्ञान में मौजूदा व्यवस्था का हम विरोध करते हैं जिसमें इस बात पर विचार नहीं किया गया और इस बात को स्वीकार भी नहीं किया गया कि सबाल्टर्न अपनी नियति खुद निर्धारित कर सकते हैं। यह आलोचना हमारी परियोजना का हृदय स्थल है। दक्षिण एशिया के अध्ययन क्षेत्रों में संभ्रांतवाद की जड़ें इतनी गहरी थीं कि इसका दूसरा रूप हो ही नहीं सकता था। इस प्रकार निषेधात्मकता हमारी परियोजना का आधारभूत और अंगीभूत आधार है।'

राजनीतिक दृष्टि से 1960 के दशक के अंत और 1970 के दशक के आरभ में अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर कई प्रकार के परिवर्तन हुए और स्थापित तथा परम्परागत विचारों पर सवाल उठाए गए। वामपंथी से लेकर दक्षिणपंथी परम्परागत राजनीतिक पार्टियों ने इनकी आलोचना की और गैर-परम्परागत राजनीतिक संघटनों और कार्यकलापों पर बल दिया गया।

कांग्रेस राष्ट्रवाद और भारतीय राज्य में इसके कार्यान्वयन से क्षुब्ध सबाल्टर्न इतिहासकारों ने इस अभिधारणा को खारिज कर दिया कि जनता की लामबंदी या तो आर्थिक परिस्थितियों अथवा ऊपर से किए गए प्रयासों का प्रतिफलन होती है। उन्होंने एक लोकक्षेत्र खोज निकालने की बात की जिसका अस्तित्व स्वायत्तापूर्ण होता है। यह स्वायत्तता शोषण की परिस्थितियों में निहित होती है। सबाल्टर्न इतिहासकारों ने कबीलों, किसानों, सर्वहारा जैसे समूहों और कभी-कभी मध्यवर्ग पर भी काम किया। उनका यह मानना था कि ये क्षेत्र संभ्रांत राजनीति से अप्रभावित थे और इनका स्वतंत्र अस्तित्व था तथा इनकी शक्ति स्वतःस्फूर्त थी। अब किसी भी आंदोलन के पीछे किसी करिश्माई नेतृत्व का हाथ होने की बात से इनकार किया जाने लगा। अब किसी भी आंदोलन या विद्रोह के विश्लेषण में इस प्रकार के करिश्मे के प्रति लोगों द्वारा की गई व्याख्या को महत्व दिया जाने लगा।

शाहिद अमीन द्वारा महात्मा गांधी के बारे में जनता के नजरिए का अध्ययन किया गया है जो इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। उन्होंने अपने एक लेख 'महात्मा के रूप में गांधी' में पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले से प्रमाण इकट्ठा कर यह बताया है कि कांग्रेस के नेता जिस दृष्टि से महात्मा को देखते थे और जनता जिस दृष्टि से महात्मा को देखती थी उसमें काफी फक्र था। हालांकि महात्मा का संदेश 'अफवाह' के रूप में चारों ओर फैल जाता था परंतु इसके पीछे आर्थिक दर्शन और राजनीति काम करती थी – अच्छा आदमी बनने की जरूरत, शराब, जुआ और हिंसा का त्याग, कताई करना और साम्प्रदायिक सद्भाव बनाए रखना। जनता में महात्मा की जादुई शक्ति के किस्से प्रचलित थे। जनता के बीच यह बात फैली हुई थी कि अपनी इस शक्ति से वे आज्ञापालकों को ईनाम और आज्ञा न माननेवालों को दंड भी दे सकते हैं। दूसरी ओर महात्मा के नाम और उनकी तथाकथित जादुई शक्ति का उपयोग जाति वर्णक्रम को मजबूत बनाने और स्थापित करने, कर्जदार को कर्ज का भुगतान करने और गो रक्षा आंदोलन तेज करने के लिए भी किया गया। महात्मा के संदेश जनता के बीच जाकर किंवदंती के रूप में फैल जाते थे। 1922 में चौरी - चौरा कांड के दौरान यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया जब पुलिस चौकी जलाने, पुलिसकर्मियों को मारने और बाजार लूटने के लिए उनके नाम का इस्तेमाल किया गया।

इतिहासकारों की इस बात के लिए आलोचना की गई कि उन्होंने न केवल लोकचेतना और मानस की अवहेलना की बल्कि बगावत और विद्रोह के बारे में जारी किए गए घोषणाओं को बड़ी गंभीरता से स्वीकार कर लिया। रंजीत गुहा ने अपने एक लेख 'द प्रोज ऑफ काउंटर-इनसरजेंसी' में भारत के किसानों और कबीलों के मौजूदा इतिहासकारों की आलोचना की है जिसमें किसान आंदोलनों को आकस्मिक और अनियोजित बताया गया है और विद्रोह की चेतना को नकारा गया है। उनके मतानुसार:

> 'इस इतिहास-लेखन में कृषक विद्रोही की चर्चा सिर्फ एक ठोस व्यक्ति या वर्ग के सदस्य के रूप में की गई एक अस्मिता के रूप में नहीं जिसकी इच्छा शक्ति और तर्क शक्ति विद्रोह का माहौल बनाती है। कृषक आंदोलन के बारे में जो भी किंवदंती और आख्यान मौजूद हैं उनका एक स्वाभाविक प्राकृतिक घटना के रूप में चित्रण किया गया है। वैसे ही जैसे बवंडर फूट पड़ता है, भूचाल आ जाता है, दावाग्नि या महामारी फैल जाती है।'

उन्होंने सरकारी रिपोर्ट से लेकर वामपंथी इतिहास लेखकों द्वारा लिखे गए बगावत के ब्योरों की आलोचना की है। गुहा के अनुसार उन्होंने प्रति-विद्रोह का पाठ लिखा है और 'विद्रोही को अपने इतिहास का नायक मानने से इन्कार किया है।'

अपने लेख 'पीजेंट रिवोल्ट ऐंड इंडियन नेशनलिज्म, 1919-1922' में ज्ञान पांडे ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि असहयोग आंदोलन से पहले अवध में उठा किसान आंदोलन अपने आप में स्वायत्त था और किसान शहरी नेताओं और यहां तक कि कांग्रेस नेताओं की अपेक्षा भी स्थानीय सत्ता संरचना के औपनिवेशिक शासन के साथ गठजोड़ को बेहतर ढंग से समझते थे। इसके अलावा जब-जब कांग्रेस का संगठन मजबूत हुआ तब-तब किसान की उग्रता में कमी आई।

स्टीफेन हेन्नींघम ने 'क्वीट इंडिया इन बिहार ऐंड ईस्टर्न यूनाइटेड प्रोविन्सेज' में यह लिखा है कि निम्नवर्गीय और संभ्रांत क्षेत्र स्पष्ट परिभाषित और एक दूसरे से अलग थे। अतएव 1942 की महान क्रांति संभ्रांतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ-साथ एक निम्नवर्गीय विद्रोह भी था। उनके उद्देश्य और मांग अलग-अलग थीं:

> 'संभ्रांतीय राष्ट्रवादी आंदोलन में शामिल आंदोलनकारियों ने सरकार द्वारा कांग्रेस के दमन का विरोध किया और भारत को आजादी देने की मांग की। दूसरी ओर निम्नवर्गीय विद्रोह में शामिल लोगों ने दासता और उत्पीड़न से मुक्ति की बात की जिसमें वे जकड़े हुए थे।'

अपनी बात आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि क्रांति के इस दोहरे चरित्र के कारण ही इसे दबाया जा सका।

डेविड हार्डीमैन ने अपने कई लेखों में निम्नवर्गीय विषय पर प्रकाश डाला है और यह कहा है कि चाहे वह दक्षिण गुजरात का कबीलाई आंदोलन हो या पूर्वी गुजरात का भील आंदोलन हो या फिर नागरिक अवज्ञा आंदोलन में कृषि मजदूरों की विद्रोह भावना हो, यह संभ्रांतों के खिलाफ निम्नवर्ग की एक स्वतंत्र राजनीति थी।

इसी प्रकार सुमित सरकार ने अपने लेख 'द कंडिशन ऐंड नेचर ऑफ सबाल्टर्न मिलिटैन्सी' में यह कहा है कि बंगाल में असहयोग आंदोलन के दौरान जनता ने नेताओं की अवहेलना की। उन्होंने बताया कि सबाल्टर्न पद में मूलतः तीन सामाजिक समूह शामिल हैं: 'कबीलाई और निम्नजाति के कृषीय मजदूर और बटाईदार; जमीनवाले किसान, आमतौर पर बंगाल में मध्यवर्ती जाति के लोग (इसमें मुसलमान भी शामिल थे); और बागानों, खानों और उद्योगों में काम करनेवाले मजदूर (शहरी मजदूरों के साथ-साथ)।' इन समूहों के बीच में आपसी विभाजन था और इसमें शोषक और शोषित दोनों शामिल थे। इसके बावजूद उनका मानना था कि :

> 'परिभाषित निम्नवर्गीय समूह का अपेक्षाकृत स्वायत्त राजनीतिक क्षेत्र था जिसकी खास विशेषताएं और साझा मानसिकता थी जिनका पता लगाया जाना जरूरी है और यह संभ्रांत राजनीतिज्ञों के क्षेत्र से बिलकुल पृथक दुनिया थी। बीसवीं शताब्दी के दौरान बंगाल के संभ्रांत राजनीतिज्ञ उच्च जाति शिक्षित पेशेवर समूह से आए थे जिनका संबंध जमींदारी या बिचौलिए काश्तकारी से था।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलग-अलग खंडों में लिखे गए अलग-अलग लेखों में संभ्रांत और निम्नवर्गीय क्षेत्रों को अलग-अलग करने और निम्नवर्गीय चेतना और कार्यवाई को स्वायत्त मानने का प्रयास किया गया। हालांकि इसमें पार्थ चटर्जी जैसे लेखक अपवाद रूप में दिखाई पड़ते हैं। परंतु इस चरण में आमतौर पर निम्नवर्गीय विषय और स्वायत्त निम्नवर्गीय चेतना पर बल दिया गया।

25.3.2 दूसरा चरण : विमर्श विश्लेषण

कुछ वर्षों बाद *निम्नवर्गीय प्रसंग* के दृष्टिकोण में बदलाव आने लगा। इस पर उत्तर आधुनिकता और उत्तर उपनिवेशवादी विचारधाराओं का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने लगा। हालांकि गुहा, पांडे, अमीन, हार्डीमैन, हेन्नींघम, सरकार और कुछ विद्वानों ने आम जनता के नजरिए से अध्ययन करने पर बल दिया पर पार्थ चटर्जी के लेखन में आरंभ से ही उत्तर उपनिवेशवादी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अपनी प्रख्यात पुस्तक *'नेशनलिस्ट थॉट ऐंड कोलोनियल वर्ल्ड'* (1986) में उन्होंने एडवर्ड सईद के उत्तर औपनिवेशिक ढांचे का इस्तेमाल किया है जिनके अनुसार औपनिवेशिक शक्ति-ज्ञान का संसार असीम और दुर्जेय है। पहले भी निम्नवर्गीय प्रसंग के संकलनों में शामिल चटर्जी के लेखों में इस प्रकार का विश्लेषण स्पष्ट दिखाई देता है। उनकी बाद की पुस्तक *द नेशन ऐंड इट्स फ्रैगमेंट्स* (1995) में उन्होंने इसी विश्लेषण को आगे बढ़ाया है। *निम्नवर्गीय प्रसंग* के कई अन्य लेखकों ने भी धीरे-धीरे मार्क्सवाद का दामन छोड़ दिया। इस प्रकार इस विचारधारा में बौद्धिक मत विभाजन जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। एक तरफ कुछ ऐसे सबाल्टर्न इतिहासकार हैं जो आज भी निम्नवर्गीय विषयों से जुड़े हुए हैं जबकि अधिकांश लेखक उत्तर औपनिवेशवादी ढंग से लेखन करते हैं। अब स्पष्ट रूप से आर्थिक और सामाजिक मुद्दों की बजाए सांस्कृतिक मसलों खासतौर पर उपनिवेशवादी विमर्श विश्लेषण और अनुसंधान पर बल दिया जाने लगा।

एक अवधारणा के रूप में सबाल्टर्नेटी यानी निम्नवर्गीयता को पुनः परिभाषित किया गया। आरंभ में यह भीतर और बाहर दोनों ही स्थितियों में प्रभुत्वशाली वर्गों के खिलाफ और शोषित

वर्ग के समर्थन में खड़ा दिखाई पड़ता है। बाद में इसको उपनिवेशवाद, आधुनिकता और प्रबोधन की अवधारणा के खिलाफ खड़ा किया गया। बाद के खंडों में सबाल्टर्न समूह से जुड़े विषयों पर अनुसंधनात्मक लेखों की संख्या में कमी आई। इसलिए पहले चार खंडों में जहां किसानों और मजदूरों जैसे निम्नवर्गों पर 20 लेख थे, वहीं बाद के छः खंडों में इस प्रकार के केवल पांच ही लेख मिलते हैं। अब औपनिवेशिक विमर्श के पाठगत विश्लेषण पर बल दिया जाने लगा। इस प्रकार निम्नवर्गीय विषयों पर अनुसंधान करने के बजाए विमर्श-विश्लेषण हावी होने लगा। 'सबाल्टर्न' पर बल घट गया और 'समुदाय' पर बल दिया जाने लगा। पहले कहा जाता था कि संभ्रांत राष्ट्रवाद ने जनता को पंगु बना दिया। अब राष्ट्रवाद की पूरी परियोजना को उपनिवेशवादी विमर्श का एक संस्करण घोषित किया गया जिसमें आन्दोलन का केन्द्रीकरण और बाद में राज्य पर बल दिया गया। धर्म निरपेक्षतावाद और बौद्धिक तक्रवाद की आलोचना की गई और अब 'टुकड़ों' तथा 'घटनाओं' पर जोर दिया जाने लगा।

आरंभिक परियोजना से हुए इस बदलाव को सही ठहराने की कोशिश की गई और यह भी प्रयत्न किया गया कि इन्हें आपस में जोड़कर देखा जाए। इसीलिए *निम्नवर्गीय प्रसंग* के खंड 10 के संपादकों (गौतम भद्र, ज्ञान प्रकाश और सूजी थारू) ने यह दावा किया कि 'निम्नवर्गीयता के प्रभाव से कुछ नहीं बचा है – न तो संभ्रांत व्यवहार, न ही राजनीतियां, शैक्षिक अनुशासन, साहित्यिक पाठ, संचित स्रोत, या भाषा।' इसलिए *निम्नवर्गीय प्रसंग* के वैध विषय के रूप में सभी संभ्रांतीय क्षेत्रों की छानबीन की जानी चाहिए।

ज्ञान प्रकाश ने यह तक्र दिया है कि भारतीय निम्नवर्गीय समूह अपने दस्तावेज और आंकड़े छोड़कर नहीं जाते इसलिए जनोन्मुखी इतिहास दृष्टि का पश्चिमी प्रारूप का नकल करना संभव नहीं था। इसलिए *निम्नवर्गीय प्रसंग* को 'निम्नवर्ग की अवधारणा को अलग ढंग से ग्रहण और विकसित कर अलग इतिहास लिखने का प्रयत्न करना था'। उनके अनुसार 'निम्नवर्गीयता को एक विमर्श प्रभाव के रूप में' देखा जाना चाहिए जिसके फलस्वरूप निम्नवर्गीय की अवधारणा का पुनर्निर्धारण हो सके। अतएव,

> ''दक्षिण एशियाई इतिहास के इस प्रकार के पुनर्परीक्षण से इस विमर्श के पहले 'वास्तविक' सबाल्टर्न पैदा नहीं हुए थे और उनकी एक आलोचनात्मक दृष्टि विकसित नहीं हुई थी। सबाल्टर्न को विमर्श की भूलभूलैया में डालने से वास्तविकता इसमें कहीं गुम होकर रह जाएगी। वास्तविक निम्नवर्गीय प्रसंग और निम्नवर्गीयता विमर्शों के बीच जन्म लेती है।''

इस प्रकार सबाल्टर्न को कर्ता के रूप में नहीं देखा जा सकता क्योंकि वे सत्ता के दांवपेंच से निर्मित और निरूपित हुए हैं। दीपेश चक्रवर्ती एक कदम और आगे बढ़कर न सिर्फ सबाल्टर्न इतिहास के पृथक क्षेत्र से इनकार करते हैं बल्कि तीसरी दुनिया के इतिहास की अलग अस्मिता पर भी सवाल उठाते हैं :

> ''जहां तक इतिहास के शैक्षिक विमर्श का सवाल है और जहां तक किसी विश्वविद्यालय के तहत इतिहास को एक विमर्श के रूप में प्रस्तुत करने का सवाल है, यूरोप इस समस्त इतिहास का मुख्य विषय है और उसने 'इंडियन', 'चाइनीज', 'केनियाई', और सभी प्रकार के इतिहासों को सैद्धांतिक आधार प्रदान किया है। ये सभी इतिहास एक महाआख्यान के ही रूप हैं जिसे 'यूरोप का इतिहास' कहा जाता है। इस प्रकार 'भारतीय' इतिहास अपने आप में निम्नवर्गीयता या सबाल्टर्नेटी की स्थिति में है। इस इतिहास के नाम पर कोई सिफ्र निम्नवर्गीय विषयों और स्थितियों को पेश कर सकता है।''

इस प्रकार *निम्नवर्गीय प्रसंग* के दूसरे चरण में न केवल निम्नवर्गीय चेतना की खोजबीन पर बल नहीं दिया जाने लगा बल्कि इस प्रकार के ऐतिहासिक कृतियों पर प्रश्न भी उठाया गया और इसमें पश्चिम की उत्तर आधुनिक सोच का काफी प्रभाव था।

25.4 आलोचना

निम्नवर्गीय प्रसंग की व्यापक तौर पर आलोचना हुई। इस परियोजना के आंरभ से ही मार्क्सवादी, राष्ट्रवादी और कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों के अलावा किसी भी स्कूल से असंबद्ध इतिहासकारों ने भी इसकी आलोचना की। इसके सभी दृष्टिकोण, चाहे व स्वायत्त निम्नवर्गीय क्षेत्र की बात हो या विमर्श विश्लेषण की, निरीक्षण और आलोचना के दायरे में आ गए।

सोशल साइंटिस्ट में कई आलोचनाए प्रकाशित हुई। इसी में प्रकाशित एक आलोचना में जावेद आलम ने निम्नवर्गीय प्रसंग के इस दावे की आलोचना की कि निम्नवर्ग स्वायत्त होता है। आलम के अनुसार निम्नवर्गीय राजनीति की स्वायत्ता विद्रोही कार्यवाई की निरंतरता को आधार बनाकर की गई और इस प्रतिरोध की एक लगातार चलनेवाली प्रवृत्ति कृषकों के नज़रिए से विद्रोह की प्रवृत्ति पर आधारित है। इस स्वायत्त कार्य का परिणाम चाहे सकारात्मक हो या नकारात्मक इसमें सबाल्टर्न इतिहासकारों की कोई रूचि नहीं है:

> ''उग्रवाद की ऐतिहासिक दिशा .... का महत्व दोयम दर्जे का है। यहां महत्वपूर्ण इसकी स्वतः स्फूर्तता और आन्तरिक रूप से इसके अन्दर पैदा होनेवाली ऊर्जा और गति हैं। इस प्रकार के सैद्धान्तिक ढांचे के अन्तर्गत तर्क के परिणाम को अगर हम आगे बढ़कर देखें तो इसका मतलब यह हुआ कि तो इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता कि इसका रूख साम्प्रदायिक दंगे की ओर है या फिर सामंत विरोधी क्रिया की ओर।''

अपने एक समीक्षात्मक लेख में संगीता सिंह और अन्य विद्वानों ने किसान विद्रोह की स्वतःस्फूर्तता को गलत ढंग से पेश करने के लिए रंजीत गुहा की आलोचना की थी। इस आलोचना में यह कहा गया कि गुहा स्वतःस्फूर्तता को प्रतिवर्तित कार्यवाई का पर्याय मान बैठे। चूंकि 'स्वतःस्फूर्तता परम्परागत चेतना पर आधारित कार्यवाई होती है,' इसलिए उनके अनुसार गुहा का 'पूरा जोर स्वतःस्फूर्तता को एक राजनीतिक प्रविधि के रूप में पुनर्स्थापित करने पर था'। इसके अलावा, विद्रोहियों की चेतना में धर्म की प्रमुखता पर बल देकर गुहा ने अंग्रेजों के आधिकारिक दृष्टिकोण का ही समर्थन किया था जो विद्रोह की अतक्रसंगतता पर बल देते थे और उपनिवेशवाद को ग्रामीण तथा कबीलाई समुदायों के सामाजिक और आर्थिक ढांचे में विघटनकारी भूमिका से मुक्त करते हैं।

रंजीत दास गुप्ता के अनुसार निम्नवर्गीय क्षेत्र की कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं है। इसके अलावा सबआल्टर्न इतिहासकार 'टकराव और प्रतिरोध के क्षणों पर ध्यान केंद्रित करते हैं, और अपने लेखन में निम्नवर्गों की ओर से सहयोग और चुप्पी की मानसिकता को काफी हद तक नजरअंदाज करते हैं'। संभ्रांत और निम्नवर्ग के बीच के सख्त विभाजन में अन्य पदानुक्रम विभाजन को नजरअंदाज किए जाने की भी आलोचना की गई है। डेविड लडेन ने एक संपादित पुस्तक की प्रस्तावना (2001) में लिखा है कि:

> 'यहां तक कि निम्नवर्गीय प्रसंग के प्रशंसक पाठकों को भी दो चीजों खलती हैं। पहली और महत्वपूर्ण कमी यह खलती है कि इसमें 'संभ्रांत' और 'निम्नवर्ग' की दीवार को सैद्धांतिक विभाजन का आधार बनाया गया है और इसी से निम्नवर्गीयता उभरकर आई है। ऐसा लगता है कि इनके बीच एक पक्की छत डाल कर ऊपरी और निचली मंजिल वाली दो मंजिली इमारत बना ली गई हो। इस सख्त द्वैधता के परिणामस्वरूप निम्नवर्गीयता इस सामाजिक ऐतिहासिक यथार्थ से कट गई कि इसमें दो या दो से अधिक मंजिलें हो सकती हैं। दूसरे, चूंकि निम्नवर्गीय राजनीति का संबंध सिद्धांततः निचली मंजिल से था, यह पूरी राजनीतिक संरचना को चुनौती

नहीं दे सकता था। इसने जनानंदोलनों के राजनैतिक इतिहास से निम्नवर्गीय समूहों को संगठित, रूपांतरकारी राजनीति से पृथक कर दिया।'

रोजालिंड ओ हैनलन ने अपने लेख में *सबाल्टर्न स्टडीज* (*निम्नवर्गीय प्रसंग*) के आरंभिक खडों की व्यापक आलोचना की है। उनका कहना है कि सबाल्टर्न इतिहासकारों का दावा है कि इतिहास-लेखन में उन्होंने नया मार्ग प्रशस्त किया है 'परंतु जिस रूप में निम्न वर्गो का आविर्भाव हुआ है और उनके योगदान सामने आए हैं उससे वे उदारवादी मानववाद के ही प्रतिरूप नजर आते हैं'। सबाल्टर्न इतिहासकारों, खासतौर पर रंजीत गुहा, दीपेश चक्रवर्ती, स्टीफेन हेन्नींघम और सुमित सरकार के लेखन में 'सामूहिक परम्पराओं और मातहत समूहों की संस्कृति' को 'समयातीत आदिमपन के रूप में देखने का दृष्टिकोण होता है। उनके अनुसार इस परियोजना के मूल में अनिवार्य तौर पर एक पूर्वाग्रह और आत्मनिर्धारण का तत्व पाया जाता है। इसमें अनुभव की अपरिवर्तनीयता, अजेयता, और स्वायत्तता पर जरूरत से ज्यादा बल दिया गया है। इसके आधार पर एक आदर्श गढ़ लिया गया है, खासतौर पर गुहा की अभिधारणा में, जिसमें किसान आंदोलन की परम्पराओं को स्वायत्त रूप में देखने का प्रयास किया गया। उन्होंने ऐसा कई बार किया और शुद्व 'हीगेलवाद' की ओर बढ़ते प्रतीत होते हैं।

क्रिस्टोफर बेली ने 'रैलिंग अराउन्ड द सबाल्टर्न' में इस परियोजना की मौलिकता के दावे पर ही सवाल खड़ा कर दिया है। उनके अनुसार सबाल्टर्न इतिहासकारों ने 'नए सांख्यिकी सामग्री और देसी दस्तावेजों' का उपयोग नहीं किया है जिनके आधार पर वे नया इतिहास लिखने का दावा कर सकते थे। ऐसा लगता है कि उनका योगदान यह है कि उन्होंने सरकारी दस्तावेजों को फिर से पढ़ा और 'आन्तरिक आलोचना को प्रशस्त किया'। अतएव थोड़े पहले की और समकालीन जनोन्मुखी इतिहास-लेखन और निम्नवर्गीय प्रसंग के बीच केवल शब्दों और लोकलुभावन मुहावरों का अंतर है। बेली के अनुसार सबाल्टर्न दृष्टि की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह भी 'संभ्रांतवाद' की तरह विस्तृत फलकवाले इतिहास की अवहेलना करता है।

इस परियोजना से जुड़े एक इतिहासकार सुमित सरकार ने उत्तर उपनिवेशवाद की ओर इसके बढ़ते कदम की आलोचना की है। अपने दो लेखों, 'द डिकलाइन ऑफ द सबाल्टर्न इन सबाल्टर्न स्टडीज' और 'ओरिएन्टलिज्म रिवीजिटेड' में उन्होंने लिखा है कि इस परिवर्तन के पीछे कई कारण रहे हैं पर बौद्विक रूप से यह दोनों हाथ में लड्डू रखने का प्रयास हैं जिसमें दूसरों की मूलवाद, प्रयोजनमूलकता और अन्य कमजोरियों के लिए आलोचना की जाती है जबकि स्वयं उन्हीं गलतियों को दोहराया जाता है। इसके अलावा इस प्रकार के कार्यों से भारतीय इतिहास को कोई खास लाभ नहीं हुआ। वस्तुतः इसमें मौलिकता का ढोल खूब पीटा गया परंतु उपनिवेशवादी विमर्श की आलोचना पुराने राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से तनिक भी अलग नहीं था। पुराने कथनों को नई शब्दावली में दुहराया गया और वह भी उतनी कुशलता से नहीं। बाद की सबाल्टर्न परियोजना एक प्रकार की तीसरी दुनिया के राष्ट्रवाद के रूप में सामने आई और बाद में उत्तर आधुनिकता और विखंडीकरण की ओर बढ़ी। वस्तुतः बाद का निम्नवर्गीय प्रसंग आशीष नन्दी द्वारा समर्थित नव-परम्परावादी और आधुनिकता विरोधी विचारधारा के काफी करीब पहुंच गया। सरकार के अनुसार इससे पहले भी इसमें 'सबाल्टर्न' और 'स्वायत्तता' जैसे तत्वों को डालने की मूलवादी प्रवृत्ति दिखाई देती है और इन्हें एक रूढ़ अर्थ और गुण में सीमित कर दिया गया। सरकार कहते हैं कि सबाल्टर्न इतिहासकारों द्वारा लिखे इतिहास समस्याओं से परिपूर्ण हैं और ऐसा उनके सीमित विश्लेषणात्मक ढांचे के कारण हुआ क्योंकि निम्नवर्गीय प्रसंग निम्नवर्गीय स्वायत्तता की साधारण अभिधारणा से पश्चिमी उपनिवेशवादी सांस्कृतिक वर्चस्व की उतनी ही सामान्यीकृत अवधारणा की ओर बढ़ गया।

25.5 प्रत्युत्तर

सबाल्टर्न इतिहासकारों ने कुछ अन्तराल के बाद इन आलोचनाओं का जवाब दिया। दीपेश चक्रवर्ती ने इन आलोचनाओं का उत्तर दिया जो खंड IV में संकलित है। परंतु इसके पहले, इसी खंड की प्रस्तावना में रंजीत गुहा ने आलोचकों को करारा जवाब दिया और उन्हें 'स्थापित विचारों के वाहक' और 'पुराने जमाने के जंग लगे शिक्षाविद' कहा 'जो अपने उदारवादी और वामपंथी घेरे के भीतर सरकारी सत्य के रखवाले प्रतीत होते हैं'। उन्होंने उन विद्वानों की आलोचना को दृढ़ता से खारिज किया 'जो पके पकाए विचारों और प्रविधियों को अपनाते हुए लकीर के फकीर बने रहे'। उन्होंने इसे पागलपन भी करार दिया। उन्होंने दिल्ली के एक आलोचक का हवाला देते हुए कहा कि 'वे हर खंड के प्रकाशन के बाद अपनी समीक्षा को हवा में लहराते हुए पागलों की तरह चीखते थे और टैगोर की कहानी के पागल चौकीदार के समान 'सब झूठा है! सब झूठा है!' की रट लगाते रहते थे।'

चक्रवर्ती ने ज्यादा विस्तार से और तर्कयुक्त जवाब दिया। उन्होंने कुछ समीक्षकों की नीयत पर भी सवाल उठाए। उदाहरण के लिए उन्होंने गुहा के खिलाफ 'हेगेलवाद' और 'प्रत्यक्षवाद' के लगाए गए दोनों ही आरोपों को परस्पर अंतर्विरोधी बताया। यह इसलिए क्योंकि 'आदर्शवाद', 'प्रत्यक्षवाद' आदि को इस लेख में सरल, वर्णनात्मक अर्थों में व्यक्त नहीं किया गया बल्कि इनके द्वारा निन्दात्मक रूख अपनाया गया। औपनिवेशिक संदर्भो और सबाल्टर्न की राजनीति और चेतना पर पड़नेवाले बाहरी प्रभावों को नजरअंदाज करने के आरोप का खंडन करते हुए उन्होंने कहा कि यह तथाकथित 'असफलता' हमारा सचेतन प्रयास है जिसके तहत हम निम्नवर्ग की चेतना के आन्तरिक तक्र को वस्तुगत और भौतिक परिस्थितियों के तक्र में समाहित नहीं करना चाहते थे। उन्होंने कहा कि :

> 'निम्नवर्गीय प्रसंग परियोजना का सबसे प्रमुख उद्देश्य उस चेतना को समझना है जिसके तहत निम्नवर्ग संभ्रांत वर्ग से बिलकुल और स्वतंत्र अपनी राजनीति करता है।'

इसका कारण यह है जैसा कि सबाल्टर्न इतिहासकारों ने बताया है कि 'राष्ट्रवादी संघर्षों के दौरान जब जनता उसमें शामिल होती थी तो इन आंदोलनों के बारे में उनका अपना नजरिया होता था और वे उस ढंग से काम करते थे'।

दीपेश चक्रवर्ती के अलावा ज्ञान प्रकाश ने भी इस परियोजना के पक्ष में काफी कुछ कहा है। उनका मानना है कि सबाल्टर्न इतिहासकारों ने इतिहास-लेखन को संभ्रांत इतिहास-लेखन के चंगुल से मुक्त किया है :

> "इस परियोजना का महत्व उस इतिहास-लेखन से है जो औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी संभ्रांतों के चंगुल से मुक्त है। इस परियोजना का उद्देश्य उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी वर्चस्व से इतिहास को मुक्त करना है। सबाल्टर्न इतिहासकारों ने इतिहास को एक नई दिशा दी जिसके फलस्वरूप तीसरी दुनिया के इतिहास-लेखन में सार्थक हस्तक्षेप किया।"

एक दूसरे लेख में ज्ञान प्रकाश ने *निम्नवर्गीय प्रसंग* परियोजना के विकास, परिवर्तन और नई दिशा का समर्थन किया है। बाद में इस बदलावों का समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'एक विषय के रूप में इतिहास की आलोचना इसके तहत विकसित हुई'।

ज्ञान पांडेय ने अपने लेख 'इन डिफेन्स ऑफ द फ्रैगमेंट' में भारत में साम्प्रदायिक दंगों पर किए हुए अधिकांश लेखन के विरोध में तर्क दिया है। उनका कहना है कि भारतीय समाज विभिन्न धार्मिक और जातीय समूदायों में बंटा हुआ है और इसके अलावा कबीलाई समूह है, औद्योगिक मजदूर हैं और महिला कार्यकर्ता समूह हैं। यह कहा जा सकता है कि ये सभी 'अल्पसंख्यक' संस्कृतियों और व्यवहारों को अभिव्यक्त करते हैं। ऐसी उम्मीद की जाती है कि ये राष्ट्रीय संस्कृति की मुख्य धारा में शामिल हो जाएं, ऐसा इसलिए कि उन्नीसवीं शताब्दी

से राज्य और राष्ट्र मानव समाज के संगठन सिद्धांत बन गए। 'द स्मॉल वायसेज ऑफ हिस्ट्री' में रंजीत गुहा ने आधुनिक इतिहास-लेखन को राज्यवादी माना है, रंजीत गुहा का मानना है कि :

> 'आमतौर पर इतिहास की समझ राज्यवाद से निर्देशित होती है जो इसी उद्देश्य से अतीत का मूल्यांकन करती है। यह ऐसी परम्परा है जिसका आरम्भ इतालवी पुनर्जागरण के दौरान हुए आधुनिक ऐतिहासिक सोच के शुरूआती दौर में हुआ।'

दीपेश चक्रवर्ती ने अपने लेख 'रेडिकल हिस्टोरिज ऐंड क्वेश्चन ऑफ एनलाइटेनमेंट रेशनिलज्म', में मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की इसलिए आलोचना की है कि यह एक प्रकार की औपनिवेशिक आधुनिकता के अति बुद्धिवाद से प्रभावित है। आगे वे यह भी कहते हैं कि 'उत्तर संरचनावादी और विखंडनवादी दर्शन औपनिवेशिक आधुनिकताओं के परिवेश में सबाल्टर्न इतिहासों के अध्ययन के विकास में उपयोगी है।' वस्तुस्थिति यह है कि कई बार इस बात को भी अस्वीकार किया जाता है कि इस परियोजना की दिशा में कोई परिवर्तन हुआ है। दीपेश चक्रवर्ती का यह मानना है कि आरंभ से ही *निम्नवर्गीय प्रसंग* सबसे अलग है और 'इतिहास-लेखन में इसने कुछ ऐसे प्रश्न उठाए हैं जो ब्रिटिश मार्क्सवादी इतिहास-लेखन परम्परा से बिलकुल अलग हैं'। उन्होंने यह कहा कि *निम्नवर्गीय प्रसंग* के आंरभ से ही उत्तर उपनिवेशवादी उद्देश्य थे और यह जनोन्मुखी इतिहास की राह पर नहीं चलाः

> 'इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निम्नवर्गीय प्रसंग और जनोन्मुखी इतिहास-लेखन, जिसके प्रणेता हॉब्सबॉम और थॉम्पसॉन थे, में मुख्यतः तीन अंतर है? क) पूंजी के सार्वभौम इतिहासों से सत्ता के इतिहास की सापेक्षित पृथकता, ख) राष्ट्र-रूप की आलोचना, और ग) सत्ता और ज्ञान के बीच के संबंध की खोजबीन इसी अंतर से उत्तर उपनिवेशवादी इतिहासों के बौद्धिक उद्देश्यों और सिद्वांत की शुरूआत मानी जा सकती है।'

इस प्रकार आलोचकों का जवाब देते हुए निम्नवर्गीय परियोजना से जुड़े आलोचकों ने अपने विचारों का समर्थन करते हुए इसे उत्तर-मार्क्सवादी, उत्तर-उपनिवेशवादी और उत्तर-संरचनावादी इतिहास-लेखन का हिस्सा माना है।

25.6 सारांश

निम्नवर्गीय प्रसंग का आरंभ मौजूदा इतिहास-लेखन की आलोचना के क्रम में 1980 के दशक के आंरभ में हुआ। परम्परागत इतिहास-लेखन पर उन्होंने जनता की आवाज की अवहेलना करने का आरोप लगाया। इस परियोजना से जुड़े लेखकों ने एक नए प्रकार का भारतीय इतिहास लिखने का दावा किया। आरंभिक वर्षों में विद्वानों और विद्यार्थियों की प्रतिक्रिया को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कुछ मायनों में इन्होंने इस दावे को पूरा भी किया। जल्द ही इसे अन्तर्राष्टीय ख्याति प्राप्त हुई। आरंभिक वर्षों में रंजीत गुहा के संपादन में निम्नवर्गीय प्रसंग के छः खंडो में भारतीय समाज के शोषित समूहों की चेतना और कार्यों को खोजने का प्रयास किया गया। इसके अलावा इस दौरान छपे लेखों में एक और प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यह प्रवृत्ति पश्चिम के उत्तर आधुनिकता और उत्तर उपनिवेशवादी लेखन से प्रभावित प्रतीत होती है। बाद के वर्षों में निम्नवर्गीय प्रसंग से जुड़े लेखकों में यह प्रवृत्ति हावी होने लगी। इसमें निम्नवर्गीय प्रसंग को नई दिशा दी गई। कभी-कभी तो संदेहवाद इतना ज्यादा सामने आया कि इसमें इतिहास-लेखन की आवश्यकता पर ही प्रश्न लगा दिया गया।

25.7 अभ्यास

1) सबाल्टर्न (निम्नवर्ग) से आप क्या समझते हैं ? भारत में *सबाल्टर्न स्टडीज* (निम्नवर्गीय प्रसंग) की शुरूआत कैसे हुई ?

2) *निम्नवर्गीय प्रसंग* की परियोजना के विकास के दोनों चरणों की चर्चा कीजिए। क्या आप समझते हैं कि दोनों ही चरणों की प्रकृति में मूलतः अन्तर है ? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

3) *निम्नवर्गीय प्रसंग* की आलोचना के प्रमुख बिंदुओं पर प्रकाश डालिए। सबाल्टर्न इतिहासकारों का प्रत्युत्तर भी लिखिए।

25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सबाल्टर्न स्टडीज, 11 खंड (1982-2000)।

डेविड लडन (संपादन) *रीडिंग सबाल्टर्न स्टडीजः क्रिटिकल हिस्ट्री , कन्टेस्टेड मीनिंग, ऐंड द ग्लोबलाइजेशन ऑफ साउथ एशिया* (दिल्ली, पर्मानेंट ब्लॉक, 2001)।

विनायक चतुर्वेदी (संपा.) *मैपिंग सबाल्टर्न स्टडीज ऐंड द पोस्टकोलोनियल* (लंदन ऐंड न्यूयाक्र, वर्सो, 2000)।

विनय लाल, 'वाकिंग विथ द सबाल्टर्नस, राइडिंग विथ द एकेडमी : द क्यूरियस एसेन्डैन्सी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, *स्टडीज इन हिस्ट्री,* 17' (2001)।

दीपेश चक्रवर्ती, 'पोस्टकोलोनियलिटी ऐंड द आर्टिफाइस ऑफ हिस्ट्री', रंजीत गुहा (संपा.), *ए सबाल्टर्न स्टडीज रीडर,* 1986-1995 (दिल्ली, ओयूपी, 1998)।

दीपेश चक्रवर्ती, 'सबाल्टर्न स्टडीज ऐंड पोस्टकोलोनियल हिस्टोरियोग्राफी', *नेपानटला : व्यूज फ्रोम साउथ,* 1:1, 2000।

ज्ञानेन्द्र पांडेय, 'इन डिफेन्स ऑफ द फ्रैगमेंट', रंजीत गुहा (संपा.) *ए सबाल्टर्न स्टडीज रीडर,* 1986-1995 (दिल्ली, ओयूपी, 1998)।

ज्ञान प्रकाश, 'सबाल्टर्न स्टडीज ऐज पोस्टकोलोनियल क्रिटिसिज्म,' *द अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू,* दिसम्बर, 1994 (99, 5)।

इकाई 26 आर्थिक इतिहास

इकाई की रूपरेखा

26.1 प्रस्तावना

अठारहवीं शताब्दी में अर्थशास्त्र का उदय एक ज्ञानात्मक अनुशासन के रूप में हुआ और इसी क्रम में इतिहास में भी एक नई शाखा विकसित हुई जिसे आर्थिक इतिहास के रूप में जाना गया। अर्थशास्त्र के प्रणेता एडम स्मिथ और अन्य क्लासिकी अर्थशास्त्री थे। इन क्लासिकी अर्थशास्त्रियों की नजर में भारत भी था। औद्योगिक क्रांति के दौरान इंगलैंड में जो चिंतकों का एक समूह था उन्होंने मुक्त अर्थव्यवस्था और अर्थशास्त्र में राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप की वकालत की। सर्वश्रेष्ठ क्लासिकी अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी की शासकीय भूमिका की आलोचना की। उनके अनुसार कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार बाजार की स्वतंत्रता के सिद्धांत के खिलाफ है। अपनी प्रसिद्ध कृति *एन इन्क्वायरी इंटू द नेचर ऐंड कौजेज ऑफ द वेल्थ ऑफ नेशन्स* (1776), में लिखा है कि 'व्यापारियों की एक कम्पनी की सरकार संभवतः दुनिया भर के किसी भी और कैसी भी सरकार से बदतर है'।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जॉन मेनार्ड कीन्स के प्रभाव में अर्थशास्त्र के सिद्धांत में बदलाव आया जिन्होंने जन कल्याण और रोजगार को बढ़ावा देने के लिए प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों में सरकार के हस्तक्षेप की वकालत की। कीन्स ने भी अपने नए आर्थिक सिद्धांतों को विकसित करते समय भारत के बारे में काफी सोचा है और अपनी आरंभिक प्रमुख कृति *इंडियन करेन्सी ऐंड फाइनान्स* (लंदन 1913), में अर्थव्यवस्था के बेहतर वित्तीय प्रबंधन की अवधारणा पर विचार किया है। गौरतलब है कि रिकार्डो जैसे आरंभिक क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने उपयोगितावादी प्रशासकों के एक समूह की सोच को प्रभावित किया है जो उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के प्रशासनिक सुधारों की बात कर रहे थे। इसके अलावा 1813 और 1833 के चार्टर ऐक्ट द्वारा कम्पनी के एकाधिकार की समाप्ति पर एडम स्मिथ का प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

अतएव यह बहुत आश्चर्य की बात नहीं है कि इतिहासकारों ने इंगलैंड में आर्थिक चिंतन के विकास और भारत में औपनिवेशिक प्रशासन के सुधार के प्रश्न को जोड़कर देखने का प्रयास किया। एरिक स्टोक्स की *द इंगलिश यूटिलिटेरियन्स ऐंड इंडिया* (ऑक्सफोर्ड, 1959); एस. अम्बीराज की *क्लासिकल पोलिटिकल इकोनोमी ऐंड ब्रिटिश पोलिसी इन इंडिया;* और ए. चन्दावरकर की *कीन्स ऐंड इंडिया; ए स्टडी इन इकोनोमिक्स ऐंड बायोग्राफी* (लंदन 1989) अदि ऐसी प्रमुख कुछ कृतियां हैं। इंगलैंड में क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र ने उन्नीसवीं

शताब्दी में औपनिवेशिक भारत की मुक्त अर्थव्यवस्था को आधार बनाया। दूसरी ओर कीन्स के अर्थशास्त्र में बीसवीं शताब्दी के मध्य के अर्थशास्त्र के विकास के बीज मौजूद हैं। दोनों ही प्रकार के अर्थशास्त्रों ने भारत में राज्य और अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया और भारत के आर्थिक इतिहास से जुड़ी बहस तेज हो गई।

26.2 उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी लेखन

भारत की अर्थव्यवस्था के बारे में लिखनेवाले आरंभिक उपनिवेशवादी लेखकों को भारतीय जनता और राष्ट्रवादी विचारों की आलोचना नहीं सहनी पड़ी। इनमें से कुछ लोगों ने खुलकर देसी अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश शासन के परिणाम की आलोचना की और कभी-कभी भारत से धन के अपवहन की भी निन्दा की। उन्होंने समकालीन फारसी इतिहासकार सैय्यद गुलाम हुसैन खान की *द सईद मुत्खेरीन* (1789) के उस कथन से भी इनकार नहीं किया जिसमें यह कहा गया है कि अंग्रेज इस देश से पैसा इकट्ठा करके भारी रकम इंगलैंड भेजा करते थे। 'हिस्टोरिकल रिव्यू ऑफ द एक्सटर्नल कमर्स ऑफ कलकत्ता फ्रोम 1750 अनटिल 1830' नामक सरकारी दस्तावेज में देश में मची लूट पर खुलकर टिप्पणी की गई है। बंगाल पर आधिपत्य स्थापित करने के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय वस्तुओं की खरीद के लिए यूरोप से चांदी का आयात बंद कर दिया और इसके लिए वे भारत के बंगाल से उगाहे गए राजस्व का इस्तेमाल करने लगे। इस रिपोर्ट के अनुसार एकतरफा निर्यात से अंग्रेजों के सितारे बुलंद हो गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीति की आलोचना होने लगी तो औपनिवेशिक प्रशासन यह दिखाने में जुट गया कि देश की आर्थिक प्रगति हो रही है। मद्रास प्रशासन ने एस. श्रीनिवास राघवेंग्र के संपादकत्व में *मेमोरेंडम ऑन द प्रोग्रेस ऑफ द मद्रास प्रेसिडेन्सी ड्यूरिंग द लास्ट फोर्टी इयर्स ऑफ द ब्रिटिश एडमिनिस्ट्रेशन* (मद्रास, गवर्नमेंट प्रेस, 1893) में एक बृहद् सांख्यिकी प्रस्तुत किया जो देश में विदेशी शासन की सुव्यस्थित रूप से लिखित प्रशंसनात्मक दस्तावेज है। भारत में ब्रिटिश शासन की दूसरी शताब्दी के दौरान साम्राज्य के आलोचकों और प्रशंसकों के बीच बहस की शुरुआत हुई। भारतीय राष्ट्रवादी, भारत से सहानुभूति रखनेवाले अंग्रेज और बाद में मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों ने धन के अपवहन को भारत की दरिद्रता का प्रमुख कारण माना। लॉर्ड कर्जन की शह पर औपनिवेशिक अधिकारियों ने यह दावा किया कि भारत में किसी प्रकार की दरिद्रता नहीं है और दोनों ओर से राष्ट्रीय आय के अलग-अलग आंकड़े प्रस्तुत किए गए। एक ओर इस अवधि में दादाभाई नौरोजी का *पॉवर्टी ऐंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया* (लंदन,1901), और विलियम दिगबी, का *'प्रोसपेरस' ब्रिटिश इंडिया: ए रिवेलेशन फ्रोम द ऑफिशियल रिकॉर्ड्स* (1901) थे; और दूसरी ओर थे एफ.टी.एटकिन्सन, 'ए स्टैटिकल रिव्यू ऑफ द इनकम ऐंड वेल्थ ऑफ ब्रिटिश इंडिया', *जरनल ऑफ द रायल स्टैटिकल सोसाइटी,* जून 1902। एटकिन्सन लॉर्ड कर्जन का मातहत अधिकारी था जिसने यह साबित करने की कोशिश की कि धीरे-धीरे ही सही पर भारत की राष्ट्रीय आय प्रतिवर्ष बढ़ रही है। नौरोजी ने इसके विपरीत विचार सामने रखे और बताया कि प्रतिवर्ष 30,000,000 पौंड भारत से बाहर भेज दिया जाता है जबकि 1800 के आसपास यह राशि लगभग 5,000,000 पौंड थी।

भारत के आर्थिक इतिहास पर लिखी एक कृति से बहस की शुरुआत हुई। कर्जन इस बात से बहुत नाराज हुआ कि एक आइसीएस ऑफिसर रोमेश चन्दर दत्त जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने, ने अपनी पुस्तक *द इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया अन्डर अर्ली ब्रिटिश रूल (1757-1837)* (लंदन, 1902) और *द इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया अन्डर द विक्टोरियन ऐज* (लंदन, 1904) में भारत पर ब्रिटिश शासन के आर्थिक प्रभावों की आलोचना की। दत्त ने किसानों पर लगाए गए भारी लगान, हस्तशिल्पों के विनाश, अकाल और ब्रिटेन को भेजे जानेवाले भारतीय धन का हवाला देते हुए ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीति की

आलोचना की। उन्होंने कहा कि अंग्रेजों ने भारत को शांति तो दी परंतु समृद्धि नहीं। औपनिवेशिक प्रशासन ने उनके इस राष्ट्रवादी विचारों को स्वीकार नहीं किया परंतु उनका एक दावा तो सर्वस्वीकृत हो गया: 'राष्ट्रों के इतिहास में कोई भी अध्ययन इतना रूचिकर और निर्देशात्मक नहीं हो सकता जितना कि युगों-युगों से चले आ रहे जनता की माली हालत का अध्ययन'। महात्मा बनने से पहले मोहन दास करमचंद गांधी ने दत्त का *आर्थिक इतिहास* पढ़ा तो वे रो पड़े और अगली पीढ़ी ने ब्रिटिश शासन की विनाशकारी आर्थिक नीति की ही छानबीन की। मार्क्सवादी चिंतक आर.पी.दत्त की लेखनी ने इसे और उजागर किया। ग्रेट ब्रिटेन के कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य आर.पी.दत्त ने *इंडिया टूडे* नामक अपनी पुस्तक में औपनिवेशिक शासन की मौलिक आलोचनात्मक व्याख्या की। 1940 में लंदन से लेफ्ट बुक क्लब द्वारा प्रकाशित इस कृति पर भारत में प्रतिबंध लगा दिया गया। अपनी इस पुस्तक में आर.पी.दत्त ने यह दिखाने का प्रयास किया कि जिस औद्योगिक साम्राज्यवाद की आलोचना आर.सी.दत्त ने की थी वह उनके समय तक आते-आते वित्तीय साम्राज्यवाद में बदल गई है और भारत में साम्राज्यवाद के अंतिम चरण में धन का अपवहन और तेजी से होने लगा है।

26.3 पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और औपनिवेशिक प्रवृत्तियां

अर्थव्यवस्था पर पड़े उपनिवेशवादी प्रभाव और ब्रिटिश शासन में भारत की दरीद्रता के प्रश्न से एक नया मुद्दा सामने आया : ब्रिटिश शासन से पहले देश की अर्थव्यवस्था कैसी थी ? क्या अंग्रेजों के आने से पहले भारत अधिक समृद्ध था ? क्या भारत ने अपना एक स्वदेशीय विकासपथ निर्मित किया था जिसे अंग्रेजों ने तहस-नहस कर दिया ? क्या उस समय राष्ट्रीय आय अधिक थी ? आरंभिक उपनिवेषवादी काल में राज्य और देसी अर्थव्यवस्था के ढांचे पर मूल्यवान सरकारी दस्तावेज तैयार किए गए थे जिसमें फ्रांसिस बुकानन हैमिलटन द्वारा पूर्वी और दक्षिणी भारत पर तैयार की गई रिपोर्ट सर्वाधिक उल्लेखनीय है। कृषि विनिर्माण और अन्तर्देशीय व्यापार का बृहद् और सांख्यिकी सर्वेक्षण के कुछ अंश फ्रांसिस बुकानन की पुस्तक *ए जर्नी फ्रोम मद्रास थ्रू द कन्ट्रीज ऑफ मैसूर, कैनरा ऐंड मलाबार 1801;* और फ्रांसिस बुकानन, *ऐन एकाउंट ऑफ द डिस्ट्रीक्ट्स ऑफ बिहार ऐंड पटना इन 1811-1812,* 2 खंड। (बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, एन.डी.) । बाद में इतिहासकारों ने मुगलकालीन आर्थिक परिस्थितियों का भी अध्ययन किया। एडवर्ड थॉमस ने अपनी पुस्तक *द रिवेन्यू रिसोर्सेस ऑफ द मुगल एम्पायर इन इंडिया* (1871) और जदुनाथ सरकार *द इंडिया ऑफ औरंगजेब : टोपोग्राफी, स्टैटिस्टिक्स ऐंड रोड़स* (1901) में इसका अध्ययन किया गया। लेकिन सबसे पहले यू.पी. में ब्रिटिश राजस्व अधिकारी डब्ल्यू.एच.मोरलैंड ने पहली बार अपनी पुस्तक *इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर* (1920), *फ्रोम अकबर टू औरंगजेब* (1922) और *एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मौसलेम इंडिया* (1929) में पूर्व-औपनिवेशिक भारत का आर्थिक इतिहास लिखा। मोरलैंड के अनुसार टोडरमल के सर्वेक्षण के समय अकबर के शासनकाल में भारत की राष्ट्रीय आय बीसवीं शताब्दी के आरंभ की तुलना में अधिक नहीं थी।

मोरलैंड के अनुसार परजीवी कृषीय निरंकुशता ने भारत के आर्थिक विकास को कुंद कर दिया जबकि सत्रहवीं शताब्दी में डच और इंगलिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के कारण विदेशी व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। उनका कहना था कि विदेशी कम्पनियों के मार्फत मुगलकालीन भारत में चांदी की आवक बढ़ी और कपड़े का निर्यात भी बढ़ा। बाद में के.एन.चौधरी ने अपने आर्थिक अध्ययन *द ट्रेडिंग वर्ल्ड ऑफ एशिया ऐंड द इंगलिश ईस्ट इंडिया कम्पनी 1660-1760* (कैम्ब्रिज, 1978) में इस निष्कर्ष को पुष्ट किया। सोवियत लेखक ए.आई. चिवेरोव ने अपनी पुस्तक *इंडियन इकोनोमिक डेवेलप्मेंट इन द सीक्सटीन्थ टू सेवेनटीन्थ सेंचुरीज* (मास्को, 1971) में मोरलैंड से बिलकुल अलग तर्क प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि मुगलकालीन भारत में अपने ढंग से पूंजीवादी विकास हो रहा था जो इंगलिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के आने के बाद विदेशी एकाधिकार पूंजी के कारण यह विकास अवरूद्ध हो

गया। प्रख्यात मार्क्सवादी इतिहासकार इरफान हबीब ने अपने लेख 'द पोटेनशियलिटिज ऑफ कैपिटलिस्ट डेवेलप्मेंट इन द इकोनोमी ऑफ मुगल इंडिया', में यह दिखाया कि मुगल शहरी अर्थव्यवस्था सुदृढ़ और सुव्यवस्थित थी परंतु मोरलैंड के अनुसार उन्होंने भी परजीवी संबंधों पर बल दिया और यह भी कहा कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था कर के बोझ तले कराह रही थी।

आर.सी. दत्त ने औपनिवेशिक काल का *आर्थिक इतिहास* लिखा जिसके बाद कई किताबें लिखी गईं जो इस प्रकार हैं : डी.आर.गाडगिल, *द इंडस्ट्रीयल इवोल्यूएशन ऑफ इंडिया इन रिसेन्ट टाइम्स* (1924); वेरा एनस्टे, *द इकोनोमिक डेवेलप्मेंट ऑफ इंडिया* (1929); और डी. एच बुकानन *द डेवेलप्मेंट ऑफ कैपिटलिस्टिक इन्टरप्राइजेज इन इंडिया* (न्यू याक्र 1934)। हाल में तपन रायचौधरी और इरफान हबीब ने *द कैम्ब्रिज इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड 1, सी. 1200-सी. 1750* (कैम्ब्रिज 1982); और धर्मा कुमार (संपा.) *द कैम्ब्रिज इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड 2 सी. 1757-सी. 1970* (कैम्ब्रिज 1983) का आर्थिक सर्वेक्षण महतवपूर्ण है। अमेरिकी लेखक डेनियल हुस्टन बुकानन का मानना था कि भारत में फैली मान्यताएं और अंधविश्वास तथा जाति व्यवस्था ने भारत की आर्थिक विकास को अवरूद्ध किया। परंतु डी.आर.गाडगिल ने अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति में जिसका उन्होंने कई बार संशोधन भी किया, इसका शुद्ध आर्थिक कारण बताया। जनसंख्या के बड़े आकार के बरक्स छोटे-छोटे पूंजी संसाधनों के कारण पूंजी जुटाने की दिक्कतें, संगठित बैंकिंग का देर से विकास और मानसून अर्थव्यवस्था के मौसमी उतार-चढ़ाव को उन्होंने इसका प्रमुख कारण माना। एक निष्पक्ष अर्थशास्त्री की तरह उन्होंने भारत में औद्योगिक क्रांति न होने के लिए न तो विदेशी शासन और न ही भारतीय सामाजिक ढांचे को दोष दिया। दूसरी ओर *द कैम्ब्रिज इकोनोमिक हिस्ट्री* के दूसरे खंड में कुछ पश्चिमी लेखकों ने आर.सी.दत्त के उपनिवेशवाद के नकारात्मक प्रभाव को चुनौती दिया है और उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रौद्योगिकी पिछड़ेपन पर निशाना साधा। उनके अनुसार इसी कारण औपनिवेशिक काल में औद्योगिक विकास और पूंजीवादी उद्यम का विकास न हो सका।

26.4 आंकड़ों की पड़ताल

औपनिवेशिक प्रशासन हर वर्ष सरकारी आंकड़े जारी करता था। इस प्रकार के आंकड़ों का विशाल भंडार मौजूद है। आजादी के बाद आर्थिक इतिहासकारों ने राष्ट्रीय आय और कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन की दीर्घावधि प्रवृत्तियों को व्याख्यायित करने के लिए इन आंकड़ों का उपयोग किया। सबसे पहले जॉर्ज ब्लीन ने कृषि उत्पादन और एस. शिवसुब्रमण्यम ने राष्ट्रीय आय पर काम किया। दोनों ही लेखकों ने इन आंकड़ों का विस्तार से अध्ययन किया और उनके आधार पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए। उन्होंने इन आंकड़ों को तालिका रूप में प्रस्तुत किया ताकि दूसरे इतिहासकार भी इसका उपयोग कर सकें। जॉर्ज ब्लीन ने *एग्रीकल्चरल ट्रेन्ड्स इन इंडिया 1891-1947 : आउटपुट, एवेलेविलिटी ऐंड प्रोडक्टिविटी* (फिलाडेलफिया,1966) लिखी। एस. शिवसुब्रमण्यम ने 'नेशनल इनकम ऑफ इंडिया 1900-01 से 1946-47' (1965) शीर्षक से दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स में अपना शोध प्रबंध प्रस्तुत किया जो बाद में स्वातंत्रोत्तर काल को जोड़कर *द नेशनल इनकम ऑफ इंडिया इन द ट्वेन्टीएथ सेंचुरी,* (नई दिल्ली, 2000) के नाम से प्रकाशित हुआ।

ब्लीन ने अपनी खोज के आधार पर बताया कि 1920 के बाद भारत के कृषि उत्पादन में गिरावट आई। यह नकारात्मक पद्धति खासतौर पर बिहार, बंगाल और उड़ीसा मे परिलक्षित हुई जिसे वे ग्रेटर बंगाल कहा करते थे। औपनिवेशिक काल के अंतिम दौर में प्रतिव्यक्ति भोजन उपलब्धता में कमी आई। एस. शिवसुब्रमण्यम ने दिखाया कि 1900-1947 के बीच भारत की राष्ट्रीय आय धीमी गति से आगे बढ़ी क्योंकि कृषि जो अर्थव्यवस्था का प्रमुख क्षेत्र थी में अच्छी प्रगति नहीं हुई। कारखाना उद्योग के तीव्र वृद्धि से औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि

हुई। एस. शिवसुब्रमण्यम के प्रमाण के अनुसार 1900-1947 के बीच भारत के अनौद्योगीकरण का सवाल ही नहीं उठता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के लिए कोई तुलनात्मक आंकड़ों की श्रृंखला उपलब्ध नहीं है। अतएव अनौद्योगीकरण का मुद्दा उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान लगातार उठता रहा। कारखाना उद्योग उस समय औद्योगिक उत्पाद को बहुत ज्यादा नहीं बढ़ा सका इसलिए बहस इस बात पर होने लगी कि क्या उस शताब्दी में कुटीर उद्योगों का ह्रास हुआ। 1960 के दशक में एक सुप्रसिद्ध विवाद में मॉरिस डेविड मॉरिस ने अपने विरोधियों का जवाब देते हुए कहा कि ब्रिटेन से सस्ता धागा आने से बुनकरों को फायदा हुआ; परंतु दोनो ही पक्षों ने कोई आंकड़ा नहीं दिया जिसके परिणामस्वरूप विवाद बढ़ता गया। यह विवाद एम. डी. मॉरिस और अन्य विद्वानों द्वारा संपादित *इंडियन इकोनोमी इन द नाइंनटीन्थ सेंचुरी : ए सिम्पोजियम* (दिल्ली, 1969) में और गहराया जिसमें प्रकाश से ज्यादा गर्माहट पैदा हुई। बाद में एक और विवाद में अमिया कुमार बागची ने अपने आलेख में 'डीइन्डस्ट्रीयलाइजेशन इन गैंजेटिक बिहार 1809-1901' में बुकानन के उस सर्वेक्षण को प्रस्तुत किया जिसके अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान कुटीर उद्योगों में रोजगार प्राप्त लोगों का अनुपात घटता चला गया। बरून डे (संपा.) के संपादकत्व में निकली पुस्तक *एस्सेज इन ऑनर ऑफ प्रोफेसर सुशोभन चन्द्र सरकार* (नई दिल्ली, 1976) में मरिका विक्जियानी ने बुकानन हैमिलटन द्वारा प्रस्तुत आंकड़े की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। उनका लेख 'द डीइन्डस्ट्रीयलाइजेशन ऑफ इंडिया इन नाइनटीन्थ सेंचुरीः ए मेथेडोलॉजिकल क्रिटिक ऑफ अमिया कुमार बागची' और अमिया कुमार बागची का जवाब *द इंडियन इकोनोमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, खंड 16, 1979 में छपा। इसके बाद *द इंडियन इकोनोमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 22,1985 में जे. कृष्णामूर्ति का 'डीइन्डस्ट्रीयलाइजेशन इन गैंजेटिक बिहार ड्यूरिंग द नाइनटीन्थ सेंचुरीः एनदर लुक ऐट द एविडेन्स' प्रकाशित हुई जिसमें तर्क प्रस्तुत किया गया कि प्रस्तुत प्रमाण बागची की पतन संबंधी अवधारणा के पक्ष में जाते हैं। अभी हाल में तीरथंकर रॉय ने *ट्रेडीशनल इनडस्ट्री इन द इकोनोमी ऑफ कोलोनियल इंडिया* (कैम्ब्रिज, 1999) में एक बार फिर उन्नीसवीं शताब्दी में किसी भी प्रकार की गिरावट से इनकार किया परंतु बागची के अलावा कोई भी समकालीन स्रोतों से आंकड़े द्वारा अपनी बात पुष्ट करने में सफल नहीं रहा। बंगलादेशी विदुषि हमीदा हुसैन ने अपनी पुस्तक *द कम्पनी विवर्स ऑफ बंगालः द ईस्ट इंडिया कम्पनी ऐन ऐंड द ऑरगनाइजेशन ऑफ टेक्सटाइल प्रोडक्शन इन बंगाल 1750-1813* (दिल्ली, 1988) में दिखाया है कि अठारहवीं शताब्दी के दौरान जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कपड़ा निर्यात पर एकाधिकार जबरन लागू किया तो किस प्रकार बुनकरों पर कहर ढाया गया।

26.5 शहर और गांव

ब्लेयर बी किंग ने *पाटर्नरशिप इन एम्पायरः दवारकानाथ टैगोर ऐंड द एज ऑफ एन्टरप्राइज इन ईस्टर्न इंडिया* (बक्रले, 1976) और आसिया सिद्दकी ने 'द बिजनेस वर्ल्ड ऑफ जमसेतजी जीजीभाय' (*इंडियन इकोनोमीक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, खंड 21, 1982) में उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में आधुनिक भारतीय व्यापार उद्यम को रेखांकित किया। अमलेस त्रिपाठी ने *ट्रेड ऐंड फाइनांस इन द बंगाल प्रेसिडेन्सी 1793-1833* (कलकत्ता, 1979) में उन्नीसवीं शताब्दी के औपनिवेशिक बंदरगाह शहरों में निजी यूरोपीय उद्यम का उल्लेख किया है और राधे श्याम रुंगटा ने *द राइज ऑफ बिजनेस कॉरपोरेशन्स इन इंडिया 1851-1900* (कैम्ब्रिज, 1970) में बाद की अवधि में प्रबंधक अभिकरण (मैनेजिंग एजेंसी) घरानों के मजबूत होते जाने की कहानी कही है। द्वारकानाथ टैगोर और जमसेतजी जीजीभाय के नमूने पर आधारित बड़े भारतीय उद्यमों को यूरोपीय पूंजी के लगातार एकाधिकार में चले जाने से औपनिवेशिक बंदरगाह शहरों में गहरा धक्का लगा परंतु सी.ए. बेली ने अपनी प्रमुख पुस्तक

रूलर्स, टाउन्समेन ऐंड बाजार्सः नॉर्थ इंडियन सोसाइटी इन द एज ऑफ ब्रिटिश एक्सपेंशन 1770-1870 (कैम्ब्रिज, 1983) में यह दिखाया है कि भारतीय व्यापारियों ने औपनिवेशिक शासन के अनुरूप अपने को ढालकर अन्तर्देशीय बाजार में अच्छा कारोबार किया।

के.एन. चौधरी और सी.जे. डेवी (संपा.), *इकोनोमी ऐंड सोसाइटी* (नई दिल्ली, 1979) और सी.जे.डेवी ऐंड ए.जी.हॉपकीन्स (संपा.), *द इम्पेरिकल इम्पैक्ट : स्टडीज इन द इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐंड अफ्रीका* (लंदन, 1978) में संकलित लेखों में कई इतिहासकारों ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़नेवाले औपनिवेशिक प्रभाव का अंकन किया है। इन लेखों में बाजार, औद्योगिक नीति और कृषि समाज से संबंधित कुछ नए निष्कर्ष भी प्रस्तुत किए गए। इस दौरान कई क्षेत्रीय आर्थिक इतिहास भी लिखे गए जिनमें दो कृतियां सुप्रसिद्ध हैं: एन.के. सिन्हा की *द इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ बंगाल*, 3 खंड (कलकत्ता, 1965,1970) और सी.जे. बेकर, *ऐन इंडियन रूरल इकोनोमीः द तमिलनाडु कंट्रीसाइड 1880-1950* (नई दिल्ली,1984)। टॉम केसिंजर ने अपनी पुस्तक *विलायतपुर 1848-1968ः सोशल ऐंड इकोनोमिक चेंज इन ए नॉर्थ इंडियन विलेज* (ब्रेकली, 1974) में पंजाब के एक गांव में हुए आर्थिक और सामाजिक बदलाव का सूक्ष्म अध्ययन किया है।

अंग्रेजों ने भारतीय अर्थव्यवस्था में सबसे बड़ा निवेश रेलवे और नहरों में किया। इसके पीछे राष्ट्रीय हित नहीं बल्कि उनका स्वार्थ काम कर रहा था। इन निवेशों से उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी, रूस और जापान जैसा कोई औद्योगिक उत्थान नहीं हुआ और समग्रतः कृषि उत्पाद में भी प्रति एकड़ कोई सुधार नहीं हुआ। इसके कुछ खतरनाक पारिस्थितिकी परिणाम भी सामने आए और ग्रामीण जनता को बार-बार अकाल और दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा। डैनियल थॉर्नर की *इन्वेस्टमेंट इन एम्पायर* (फिलेडेल्फिया,1950); डैनियल थॉर्नर की 'ग्रेट ब्रिटेन ऐंड द इकोनोमिक डेवेलप्मेंट ऑफ इंडियाज रेलवे,' (*जरनल ऑफ इकोनोमिक हिस्ट्री*, खंड XI, 1951), एलिजाबेथ ह्विटकॉम्ब, *एग्रेरियन कंडिशन्स इन नॉर्दन इंडियाः द यूनाइटेड प्रोविनसेज अन्डर ब्रिटिश रूल, 1660-1900* (बक्रले, 1972); और अमर्त्य सेन, *पोवर्टी ऐंड फेमिन्सः ऐन एस्से ऑन इनटाइटिलमेंट ऐंड डेप्रिवेशन* (इन्टरनेशनल लेबर ऑरगानाइजेशन, 1981) में इन पक्षों का विस्तार से वर्णन किया है। नोबेल पुरस्कार प्राप्त विश्व प्रख्यात अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने यह बताया है कि भंडारगृह में अनाज उपलब्ध रहने के बावजूद मूल्यों और मजदूरियों में आए प्रतिकूल उतार-चढ़ाव से अकाल पड़ता है।

26.6 औद्योगीकरण

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ हद तक भारत का औद्योगीकरण हुआ परंतु यहां कोई औद्योगिक क्रांति नहीं हुई और 1947 के पहले बड़े आकार के उद्योगों में वृद्धि के बावजूद कोई आर्थिक उछाल नहीं आया। इसके कारण को लेकर इतिहासकारों में पर्याप्त मतभेद है। मार्क्सवादी अर्थषास्त्री अमिय कुमार बागची ने *प्राइवेट इनवेस्टमेंट इन इंडिया 1900-1939* (कैम्ब्रिज, 1972) और गैर मार्क्सवादी इतिहासकार रजत के. राय ने *इन्डस्ट्रीयलाइजेशन इन इंडियाः ग्रोथ ऐंड कनफ्लिक्ट इन द प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर 1914-1947* (नई दिल्ली, 1979) में ही इसके लिए औपनिवेशिक नीतियों को जिम्मेदार ठहराया। एक प्रसिद्ध अमेरिकी इतिहासकार मॉरिस डी. मॉरिस ने *कैम्ब्रिज इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया* (1983) के द्वितीय खंड में लिखा है कि भारतीय आर्थिक ढांचे के प्रौद्योगिकी पिछड़ेपन ने बड़े उद्योगों में निवेश की लगातार वृद्धि को अवरूद्ध कर दिया। इसके बाद इतिहासकार बी.आर.टॉमलिन्सन, जिन्होंने इस विवाद में किसी का पक्ष नहीं लिया, *द इकोनोमी ऑफ मॉडर्न इंडिया 1860-1970* (*न्यू कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, खंड III, कैम्ब्रिज, 1993) में लिखा कि सरकार की बेरूखी और सामरिक प्राथमिकताओं के कारण भारतीय उद्योग का प्रसार सीमित रहा जबकि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान इसके विकास की कई संभावनाएं और अवसर मौजूद थे। उस समय तक एक बड़ा भारतीय पूंजीवादी वर्ग भारत में यूरोपीय पूंजी से जूझ रहा था। क्लाड मार्कोविट्ज़

ने *इंडियन बिजनेस ऐंड नेशनलिस्ट पोलिटिक्स 1931-1939, द इंडिजेनस कैपिटलिस्ट क्लास ऐंड द राइज ऑफ कांग्रेस पार्टी* (कैम्ब्रिज, 1985) में इस वृद्धि और आन्तरिक तनाव का अध्ययन किया है। अब आम सहमति से पिछड़ेपन का कारण सामाजिक मूल्यों और रीति-रिवाजों में नहीं ढूंढा गया। इस आर्थिक पिछड़ेपन या विकास में राजनीतिक कारक अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है।

26.7 सारांश

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर में उपनिवेशवादी शासकों की आर्थिक नीतियां विवाद का विषय बन गईं। एक ओर जहां औपनिवेशिक शासन अपने नीतियों को देश के लिए लाभदायक ठहरा रहा था वहीं दूसरी ओर राष्ट्रवादी लेखक और सहानुभूति रखनेवाले ब्रिटिश टिप्पणीकार इन नीतियों को शोषक और दमनकारी कहकर आक्रमण कर रहे थे। दादाभाई नौरोजी, आर.सी.दत्त और विलियम दिगबी सरकार की नीतियों के प्रसिद्ध आलोचक थे। जैसा कि हम जानते हैं भारत के आर्थिक इतिहास की शुरुआत इस युग से मानी जा सकती है। डी.आर.गाडगिल, वेरा एनस्टी और डी.एच. बुकानन ने औपनिवेशिक युग के आर्थिक इतिहास की व्याख्या भी इसी परम्परा में की। जदुनाथ सरकार और डब्ल्यू. एच. मोरलैंड ने मुगल अर्थव्यवस्था के बारे में लिखा। स्वातंत्रोत्तरकाल में आर्थिक इतिहास अध्ययन का एक स्थापित क्षेत्र बन गया और अर्थव्यवस्था के विभिन्न मुद्दों के संदर्भ में भारतीय इतिहास के अलग-अलग कालों पर शोध किए गए।

26.8 अभ्यास

1) पूर्व-औपनिवेशिक काल में भारत के आर्थिक इतिहास पर विभिन्न लेखकों के दृष्टिकोणों की चर्चा कीजिए।

2) भारत के आर्थिक इतिहास पर उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी इतिहासकारों में क्या अंतर है? सोदाहरण समझाइए।

3) भारत के आर्थिक इतिहास के संदर्भ में निम्नलिखित टिप्पणियां लिखिए:

   क) औद्योगीकरण।

   ख) शहर और गांव।

इकाई 27 किसान और मजदूर

इकाई की रूपरेखा

27.1 प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी में भारतीय राजनीति में वामपंथी आंदोलन के प्रवेश ने स्वाधीनता आंदोलन के दौरान किसानों, मजदूरों और उनके आंदोलनों को महत्व दिया गया। इन आंदोलनों पर इतिहास लिखने के क्रम में भारतीय समाज, खासतौर पर किसान-भूमिपति संबंधों और मजदूर-पूंजीपति संबंधों में वर्ग संबंधों को सूक्ष्मता से अध्ययन करने की जरूरत थी। इनसे सम्बद्ध मुद्दों पर पहले भी अध्ययन हो चुका था; उद्योग का बृहद ऐतिहासिक साहित्य लिखा जा चुका था। परिवर्तनगामी लेखन का उद्देश्य किसानों और मजदूरों को स्वतंत्र रूप से इतिहास के अध्ययन का विषय बनाना था। जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि किसानों और मजदूरों का इतिहास अलग-थलग करके नहीं लिखा जा सकता और मालिकों से उनके संबंधों के परिप्रेक्ष्य में इसे देखना निहायत जरूरी था। जैसे-जैसे इस बात का एहसास होता चला गया वैसे-वैसे नए श्रम इतिहासकार श्रम और पूंजी को एक समान महत्व देने लगे। इसके अलावा इस विषय की प्रकृति के अनुरूप पुराने उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन में कृषीय संबंधों को समग्रता में देखा गया और किसानों की स्थिति को जानने के लिए काश्तकार और जमींदारों के परस्पर संबंधों पर भी विचार किया गया।

गौरतलब है कि भारतीय इतिहास में 'किसान' और 'मजदूर' नए शब्द थे। उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन में 'किसान' के बजाए 'काश्तकार' और 'रैयत' शब्द का इस्तेमाल किया जाता था। यह रैयत शब्द फारसी मूल का है जिसका शाब्दिक अर्थ प्रजा है। मुगल काल में गांव में रहनेवाले सभी कामगारों ओर खेतिहरों को जिन्हें लगान देना होता था रियाया (रैयत का बहुबचन) यानी प्रजा कहा जाता था। अंग्रेजों के आने से पहले भी किसान थे परंतु उस समय औद्योगिक मजदूर नहीं थे। गांवों में शिल्पी, खेतों में काम करनेवाले नौकर, खेतिहर मजदूर, चर्मशोधक, पालकी ढोनेवाले, शराब बनानेवाले, झाड़ू-बहारू करनेवाले, कचरा उठानेवाले लोग और समुदाय रहा करते थे। औद्योगिक सर्वहारा वर्ग एक नया वर्ग या जिसका उदय उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में बृहद उद्योगों के उदय के साथ हुआ। सही मायने में उसके पहले मजदूरों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता था। **किसानों को एक अलग वर्ग के रूप में माने जाने की अवधारणा और मजदूरों के एक विशिष्ट वर्ग के रूप में उदय होने से बीसवीं शताब्दी के दौरान किसानों और मजदूरों का इतिहास लिखा गया।** वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा और भारत में साम्यवादी विचारधारा के प्रसार के फलस्वरूप मजदूरों और किसानों से जुड़े परिवर्तनगामी इतिहास-लेखन का जन्म हुआ।

आजादी के बाद खासतौर पर किसानों और मजदूरों के वामपंथी इतिहास-लेखन में तेजी आई। मार्क्सवादी विद्वान ए.आर.देसाई ने *पीजेन्ट स्ट्रगल्स इन इंडिया* (बम्बई, 1979), नामक पुस्तक संपादित की। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के इतिहासकार और औपनिवेशिक बंगाल के अंतिम दौर में हुए तेभागा या बटाईदार के आंदोलन में खुद सक्रिय भागीदारी करनेवाले सुनिल कुमार सेन ने *एग्रेरियन स्ट्रगल इन बंगाल 1946-47* (कलकत्ता, 1972) में आंखों देखी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है। इसके बाद *वर्किंग क्लास मुवमेंट्स इन इंडिया 1885-1975* (दिल्ली, 1994) उनकी एक और महत्वपूर्ण पुस्तक है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी विद्वान सुकोमल सेन ने *वर्किंग क्लास ऑफ इंडिया: हिस्ट्री ऑफ इमरजेंस ऐंड मुवमेंट 1830-1970* (कलकत्ता, 1977) में इस पर विस्तार से विचार किया है।

27.2 1947 के पहले इतिहास-लेखन

ऐसा सोचना गलत होगा कि किसान और मजदूर बिलकुल नए विषय थे और न ही यह कहना ठीक होगा कि समाजवाद के उदय के पूर्व इस विषय में किसी की रुचि ही नहीं थी। लाल बिहारी डे ने अपनी इंगलिश भाषा में लिखी कथात्मक कृति *गोविन्दा सामन्त* (2 खंड, 1874) में गरीबों की दशा का वर्णन किया था। 1878 में *बंगाल पीजेन्ट लाइफ* नाम से इसका नया संस्करण निकला जिसमें उन्नीसवीं सदी के किसानों से जुड़ी महत्वपूर्ण सामग्री शामिल थी। इसके अलावा ब्रह्म समाज सुधारक शशिपाद बनर्जी ने 1874 में ही *भारत श्रमजीवी* के नाम से एक बंगाली पत्रिका की शुरुआत की और इस पत्रिका में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्रियां शामिल होती थीं।

अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी और फारसी दस्तावेजों में खेती और किसानों के बारे में सूचना मिलती है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक वरिष्ठ अधिकारी एच.टी.कोलब्रूक ने *रिमार्क्स ऑन द हसबैन्ड्री ऐंड इन्टरनल कामर्स ऑफ बंगाल इन 1794* (नया संपा. कलकत्ता 1804) नामक किताब लिखी। हाल ही में इतिहासकारों को 1785 में बंगाल के एक मुगलिया अधिकारी द्वारा कम्पनी के एक कर्मचारी के लिए लिखा महत्वपूर्ण फारसी अभिलेख *रिसाला-ए ज़िरात* (कृषि आख्यान) प्राप्त हुआ है जिसमें खेतिहर के चार अलग-अलग प्रकार बताए गए हैं; 1) *मुकर्ररी* किसान, एक काश्तकार जिसे स्थाई अधिकार प्राप्त था, 2) *खुदकाश्त* किसान, एक ऐसा काश्तकार जिसे अपने गांव में अधिकार मिले हुए थे, 3) *पयकाश्त* किसान, एक ऐसा काश्तकार जो रहता तो किसी दूसरे गांव में था पर उसके खेत दूसरे जगह थे, 4) *कलजनाह,* या ऐसा किसान जो दूसरे किसान के सेवक के रूप में खेत जोतता था (देखिए हरबन्स मुखिया 'द *रिसालाए ज़िरात* कृषि आख्यान)'। इसे हरबन्स मुखिया के *पर्सपेक्टिव्स ऑन मेडिवल हिस्ट्री* (नई दिल्ली, 1993) में शामिल किया गया है। बाद के दस्तावेजों के अनुसार किसानों के इस चौथे प्रकार को कृषि मजदूर, बटाईदार या खेत में काम करनेवाला नौकर कहा जा सकता है। *खुदकाश्त* (अपने ही गांव में खेती करनेवाला किसान) और *पयकाश्त* (दूसरे गांव में खेती करनेवाले किसान) के बीच का फर्क औपनिवेशिक काल में जनसंख्या के बढ़ते दबाव के कारण धीरे-धीरे लुप्त होते चले गए। परंतु ये कारक मौजूद रहे और इसके फलस्वरूप किसान और कृषि मजदूरों के बीच फर्क बना रहा। औपनिवेशिक भारत की जनसंख्या गणना में इन्हें कृषि मजदूरों के खाने में रखा गया जिसकी हैसियत बटाईदार से भी नीचे थी। बटाईदार को अबतक किसान की हैसियत प्राप्त थी।

ब्रिटिश शासन की नजर मुख्य रूप से लगान पर होती थी इसलिए औपनिवेशिक प्रशासन लगातार रैयतों से प्राप्त लगान पर नजर रखता था और उसे दर्ज भी किया जाता था। परंतु कृषि मजदूरों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे काश्तकार नहीं थे और उन्हें किसी भी प्रकार के काश्त के लिए लगान नहीं देना होता था। इसीलिए बी.एच.बेडेन-पावेल की पुस्तक *मैनुअल ऑफ लैंड रेवेन्यू सिस्टम ऐंड लैंड टेन्योर्स ऑफ इंडिया* (कलकत्ता 1882) में जमींदारों के साथ केवल रैयतों का जिक्र किया गया है। बाद में यह

पुस्तक *लैंड सिस्टम ऑफ ब्रिटिश इंडिया* (ऑक्सफोर्ड, 1892) के नाम से तीन खंडों में प्रकाशित हुई। एक दूसरे अधिकारी डब्ल्यू.एच.मोरलैंड ने दो पुस्तकें लिखीं: *नोट्स ऑन द एग्रीकल्चरल कंडीशन्स ऐंड प्रोबलेम्स ऑफ द यूनाइटेड प्रोविन्सेज, रिवाइज्ड अप टू 1911* (एलाहाबाद 1913), और *एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इंडिया* (कैम्ब्रिज,1929)।

बेडेन पॉवेल और डब्ल्यू.एच.मोरलैंड की कृतियों से यह बात स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि किसानों से अधिशेष के रूप में लगान वसूलने का काम जमींदार अंग्रेजों के आने से पहले भी कर रहे थे। औपनिवेशिक युग में अधिशेष वसूलने का एक अन्य परम्परागत तरीका, ऋण और ब्याज को विशेष महत्व दिया जाने लगा और शनैः-शनैः ब्रिटिश अधिकारियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। रैयत के हाथ से जमीन निकलने लगी और महाजनों के खिलाफ दंगे फूट पड़े। पंजाब के दो अधिकारियों ने रैयतों के ऋणग्रस्तता और महाजनी व्यवस्था से उत्पन्न सामाजिक तनावों पर महत्वपूर्ण कार्य किया है : एस.एस.थॉरबॉर्न, *मुसलमान्स ऐंड मनीलेन्डर्स इन द पंजाब* (1866) और मैलकम डार्लिंग, *द पंजाब पीजेन्ट इन प्रोसपेरिटी ऐंड डेब्ट* (लंदन, 1932)।

औपनिवेशिक प्रशासन में कुटीर और लघु उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों पर भी काम किया गया। उत्तर प्रदेश में दो महत्वपूर्ण आधिकारिक कार्य हुए : विलियम होय, *ए मोनोग्राफ ऑन ट्रेड ऐंड मेनुफैक्चर्स इन नॉर्दन इंडिया* (लखनऊ, 1880) और ए.सी.चटर्जी, *नोट्स ऑन द इंडस्ट्रीज ऑफ द यूनाइटेड प्रोविन्सेज* (एलाहाबाद 1908) । कुटीर उद्योगों के स्थान पर कारखानों की स्थापना से एक नया परिवर्तन आया जिसमें एक साथ कई कारीगर काम करते थे और इस नए विकास पर एन.एम.जोशी ने अपनी कृति *अरबन हैंडिक्राफ्ट्स ऑफ द बाम्बे डेकन* (पूणा, 1936) मे विवेचन किया है।

बड़े उद्योगों के उदय से दो नई सामाजिक शक्तियां उभरीं : श्रम और पूंजी। औपनिवेशिक युग में इन नए विकासों पर विद्वानों ने काम किया है, जिनमें उल्लेखनीय हैं : एस.एम.रत्नागर, *बम्बई इंडस्ट्रिज: द कॉटन मील्स* (बम्बई, 1927); डी.एच.बुकानन, *द डेवेल्पमेंट ऑफ कैपिटलिस्टिक इन्टरप्राइज इन इंडिया* (न्यू याक्र, 1934); और राधाकमल मुखर्जी, *द इंडियन वर्किंग क्लास* (बम्बई 1945) । स्पष्टतः औपनिवेशिक युग के अंतिम दौर में देश के आर्थिक जीवन में किसानों के साथ-साथ मजदूरों का भी प्रवेश हुआ। बढ़ते राजनीतिक असंतोष में इस प्रकार के लोगों की भागीदारी को देखते हुए ब्रिटेन की सरकार ने दो शाही आयोग स्थापित किए जिन्होंने उनकी स्थिति पर महत्वपूर्ण रिपोर्ट प्रस्तुत की: *द रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर इन इंडिया, रिपोर्ट* (1928) और *द रॉयल कमीशन ऑन लेबर इन इंडिया, रिपोर्ट* (1931)। औपनिवेशिक युग ने किसानों और मजदूरों से जुड़े पर्याप्त प्रमाण जुआ दिए थे जिनका उपयोग आजादी के बाद होनेवाले अनुसंधानों में किया गया।

27.3 वामपंथी विचारधारा और इसके आलोचक

वामपंथियों ने मजदूर वर्ग को वर्ग संघर्ष का नायक और भारतीय समाज का सर्वाधिक प्रगतिशील राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित किया। अभी भी जनसंख्या का अधिकांश हिस्सा कृषि पर आश्रित था। इसलिए वामपंथी इतिहासकारों को किसानों की ओर ध्यान देना पड़ा। औपनिवेशिक युग में कृषि समाज में होनेवाले परिवर्तनों को समझने के लिए उन्होंने अपना एक प्रतिमान या ढांचा निर्मित किया। आजादी के तुरंत बाद एस.जे.पटेल की *एग्रीकल्चरल वर्कर्स इन मॉडर्न इंडिया ऐंड पाकिस्तान* (बम्बई, 1952) और रामकृषण मुखर्जी *द डाइनेमिक ऑफ ए रूरल सोसाइटी* (बर्लिन, 1957) में इस वामपंथी प्रतिमान का इस्तेमाल किया गया। इस दृष्टिकोण के अनुसार, अंग्रेजों के शासनकाल में भारत में कृषि व्यवस्था और कृषि समाज में कुछ आमूल चूल परिवर्तन हुए जो इस प्रकार हैं : कानून द्वारा भूमि को सम्पत्ति बनाना; जबरन नगदी फसल की खेती कराना; जमीन को खरीदने और बेचने की वस्तु बनाना

और उसे बाजार से जोड़ना; किसानों की बढ़ती ऋणग्रस्तता और जमीन छीन जाने का सिलसिला, कृषक वर्ग का अमीर किसान और गरीब किसान में विभाजन; किसानों का मजदूर बनते चले जाना; भूमिहीनता और भूमिहीन मजदूरों के कंगाल वर्ग का उदय; आत्मनिर्भर किसानों से युक्त ग्रामीण समुदाय का विध्वंस; और गांवों में सामाजिक स्तरीकरण की दूरगामी प्रक्रिया।

बाद में हुए अनुसंधानों से यह बात सामने आई कि इस प्रकार की अवधारणाएं पूरी तरह सही नहीं है और औपनिवेशिक अभिलेखागार में उपलब्ध दस्तावेज के विशाल भंडार का पूरी तरह इस्तेमाल नहीं किया जा सका है। धर्मा कुमार ने अपनी पुस्तक *लैंड ऐंड कास्ट इन साउथ इंडिया, एग्रीक्चरल लेबर इन मद्रास प्रेसिडेंसी ड्यूरिंग द नाइनटीन्थ सेंचुरी* (कैम्ब्रिज, 1965) में ऐतिहासिक छानबीन और संशोधन का काम शुरु किया। उन्होंने पूर्व-औपनिवेशिक और आरंभिक औपनिवेशिककालीन भारत के उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर यह बताया कि भारत में बंधुआ कृषि मजदूर काफी संख्या में मौजूद थे जो परम्परागत रूप से अस्पृश्य जाति से सम्बद्ध थे। यहां भूमिहीनता का संबंध जाति से था बाजार से नहीं। रजत राय और रत्ना राय ने *द इंडियन इकोनोमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू* (खंड 10,1973) में प्रकाशित अपने लेख 'द डाइनेमिक ऑफ कंटिन्यूटी इन रूरल बंगाल अन्डर द ब्रिटिश इम्पेरियमः ए स्टडी ऑफ क्वेसी-स्टेबल सबसिसटेन्स इक्वीलिब्रियम इन अन्डरडेवेल्पड सोसाइटिज इन ए चेंजिंग वर्ल्ड' में लिखा है कि औपनिवेशिक शासन के आरंभ में भी बड़े और अमीर किसान हुआ करते थे जिनके खेतों पर बटाईदार और बंधुआ मजदूर काम करते थे और उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी में होनेवाले आर्थिक परिवर्तनों का लाभ मिला।

औपनिवेशिक युग में अमीर और गरीब किसानों के ध्रुवीकरण के मार्क्सवादी प्रतिमान पर एक अन्य दिशा से हमला हुआ। वी.आई.लेनिन और ए. वी. छायानोव के बीच कृषक वर्ग के स्तरीकरण पर एक लम्बी बहस चली थी। एक ओर जहां लेनिन का यह मानना था कि कृषि पूंजीवाद के विकास और कुलक वर्ग (अमीर किसान) के उदय के कारण रूसी किसान अमीर और गरीब किसानों में बंट गए थे वहीं छायानोव का यह मानना था कि रूसी कृषक वर्ग एक ऐसा समाज था जिसमें छोटे-छोटे किसानों के समुदाय थे और उनके खेतों के आकार छोटे-बड़े होते रहते थे और कभी भी उनमें स्थाई बंटवारा नहीं हुआ। धर्मा कुमार (कैम्ब्रिज 1983) के संपादन में निकले *कैम्ब्रिज इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड 2, 1757-1970* में लिखे लेख में एरिक स्टोक्स ने यह बताया कि उस समय किसी भी प्रकार का कृषीय ध्रुवीकरण नहीं था। यदि गांव में किसी प्रकार का विभाजन था तो उसका कारण कुछ लोगों का अमीर बनना नहीं बल्कि अधिकांश लोगों का लगातार गरीब होते चला जाना था। इस जटिल मुद्दे पर अभी भी विवाद है और बहस जारी है। क्या कृषक वर्ग गरीब छोटे किसानों का एक वर्ग था ? नील चार्ल्सवर्थ ने *पीजेन्ट्स ऐंड इम्पेरियल रूलःएग्रिकल्चर ऐंड एग्रेरियन सोसाइटी इन द बाम्बे प्रेसिडेन्सी, 1850-1935* (कैम्ब्रिज, 1985) में यह बात सामने रखी कि औपनिवेशिक भारत में कुछ हद तक कृषि के वाणिज्यीकरण से किसानों की स्थिति थोड़ी सी सुधरी। दूसरी ओर सुगता बोस ने *एग्रेरियन बंगालः इकोनोमी, सोशल स्ट्रक्चर ऐंड पोलिटिक्स 1919-1947* (कैम्ब्रिज, 1986) में लिखा है कि कुछ ही सीमांत इलाकों में थोड़े बहुत अमीर किसान दिखाई पड़ जाते हैं। पूर्वी बंगाल के अधिकांश जिलों में छोटे किसान ही हुआ करते थे और औपनिवेशिक काल में उनकी स्थिति वैसी ही बनी रही। अभी हाल में ही नरियाकी नुकाजातो ने *एग्रेरियन सिस्टम इन ईस्टर्न बंगाल 1870-1910* (कलकत्ता, 1994) में यह पाया कि कम से कम तीन चौथाई जमीन पर श्रमिकों और बटाईदारों से खेती करवाई जाती थी और इसमें एक गैर बराबरी का संबंध विकसित हुआ। वे विनय भूषण चौधरी की 'द प्रोसेस ऑफ डेपीजैन्टिज़ेशन इन बंगाल ऐंड बिहार, 1885-1947', (*इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू*, खंड 2, 1975) की पूर्व प्रकाशित अभिधारणा का समर्थन करते हैं। चौधरी ने अपने इस

लेख में एक महत्वपूर्ण बात कही कि बटाईदारों की बढ़ती संख्या से यह तथ्य सामने आ रहा था कि किसानों के हाथ से जमीन छीन रही थी, जबकि छोटे-छोटे खेतों की स्थिति बाहर से अपरिवर्तित प्रतीत होती थी।

कुल मिलकार इतिहासकारों के बीच एक सहमति कायम हुई कि केवल वर्ग ही कृषकों के बीच उभरी गैर-बराबरी के लिए जिम्मेदार नहीं था। एम.सी.प्रधान, *द पोलिटिकल सिस्टम ऑफ द जाट्स ऑफ नॉदर्न इंडिया,* डेविड पोकॉक, *कनबी ऐंड पटीदारः ए स्टडी ऑफ द पटीदार कम्यूनिटी ऑफ गुजरात,* और स्टीफेन एफ. डेल, *इस्लामिक सोसाइटी ऑन द साउथ एशियन फ्रंटियरः द मैप्पिलास ऑफ मालाबार 1498-1922* (1980) ने अपने अध्ययनों में दिखाया है कि जाति और समुदाय ग्रामीण समाज को जोड़ने के लिए मजबूत बंधन थे, जो उन्हें अन्य किसानों से अलग करते थे।

27.4 दीर्घावधि नजरिया

डब्ल्यू. एच. मोरलैंड ने ग्रामीण आबादी के जीवन में राज्य की भूमिका के दीर्घगामी परिणामों पर विस्तार से विचार किया है। अलीगढ़ के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने उनका अनुगमन करते हुए पूर्व-औपनिवेशिक और औपनिवेशिक कालों में कृषीय जीवन और राज्य निर्माण के विभिन्न आयामों की छानबीन की है। 1960 के दशक के आरंभ में अलीगढ़ के प्रसिद्ध इतिहासकार इरफान हबीब ने अपनी पुस्तक *द एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया 1556-1707* (बम्बई, 1963) में दिखाया है कि किस प्रकार मुगल राज्य ने कृषकों पर करों का भारी बोझ लाद दिया था। उन्होंने औरंगजेब के शासनकाल में होनेवाले कई किसान विद्रोहों का उल्लेख किया है। जापानी इतिहासकार हिरोशी फुकाज़ावा ने समृद्ध मराठी दस्तावेजों के आधार पर राज्य और ग्राम शासन के दो छोरों का वर्णन किया है। इस संदर्भ में लिखे गए उनके लेख *द मेडिवल डेकनः पीजेन्ट्स, सोशल सिस्टम्स ऐंड स्टेट्स, सीक्सटीन्थ टू सेवेंन्टीन्थ सेंचुरिज* (नई दिल्ली, 1991) नाम कृति में संकलित है। अमेरिकी इतिहासकार बर्टन स्टीन ने यह तर्क दिया कि ग्रामीण समुदाय के जीवन में हस्तक्षेप करनेवाले राज्य का चरित्र इरफान हबीब के द्वारा दिखाए गए चरित्र की तुलना में कम से कम दक्षिण में, अधिक कमजोर और ज्यादा बिखरा हुआ था। स्टीन के *पीजेन्ट्स स्टेट ऐंड सोसाइटी इन मेडिवल साउथ इंडिया* (नई दिल्ली, 1980) में गैर-मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया गया है। एक अन्य अमेरिकी इतिहासकार डेविड लडेन ने दक्षिण के तिरूनेलवेली जिले के गांव और स्थानीय शासकों का अध्ययन किया। इस सूक्ष्म अध्ययन से पूर्व-औपनिवेशिक और औपनिवेशिक कालों को शामिल किया गया जो *पीजेन्ट हिस्ट्री इन साउथ इंडिया* (प्रिन्सटन, 1985) नामक शीर्षक से प्रकाशित हुआ। किसानों के इतिहास को अब मार्क्सवादियों द्वारा किए गए किसान आंदोलनों की अपेक्षा बृहद परिप्रेक्ष्य में देखा जाने लगा।

27.5 किसान आंदोलन

उपर्युक्त नजरिए के कारण किसान संघर्ष के अध्ययन की सूक्ष्मता बढ़ती चली गई। इस क्षेत्र में गैर-मार्क्सवादी इतिहासकारों के प्रवेश से नई अवधारणाएं सामने आईं। इस प्रकार के इतिहास-लेखन की शुरुआत एरिक स्टोक्स ने की जिन्होंने अपने लेखों में किसानों की दशा और आंदोलनों पर विचार करते हुए जाति, बाजार और कर के बोझ और अन्य कई कारकों की भी छानबीन की। उनके लेख *द पीजेन्ट ऐंड द राजः स्टडीज इन एग्रेरियन सोसाइटी ऐंड पीजेन्ट रिबेलियन इन कोलोनियल इंडिया* (कैम्ब्रिज, 1978) में संकलित हैं। समाजशास्त्री डी.एन.धनागरे के *पीजेन्ट मुवमेंट्स इन इंडिया* (दिल्ली, 1983) में पुराने एकआयामी मार्क्सवादी नजरिए से अलग हटकर अपनी बात कही गई। इसी समय रंजीत गुहा ने *एलेमेंट्री आसपेक्ट्स ऑफ पीजेन्ट इन्सरजेंसी इन कोलोनियल इंडिया* (नई दिल्ली, 1983) में इस विषय में निम्नवर्गीय परिप्रेक्ष्य का समावेश किया। उन्होंने दिखाया कि किसानों द्वारा उठाए गए कदम

स्थानीयता, जातीय या सामुदायिक बंधनों से प्रभावित थे और उनका यह विद्रोह मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ था न कि मार्क्सवादी प्रारूप के अनुसार यह कोई क्रांतिकारी घटना थी।

27.6 श्रम इतिहास

भारत में मजदूर संघ का जो पुराना वामपंथी इतिहास लिखा गया उसमें आलोचनात्मक दृष्टि अपनाए बिना यह जान लिया गया कि भारत के मजदूर वर्ग का सामाजिक विन्यास और दृष्टिकोण यूरोपीय मजदूर वर्ग के अनुरूप है। इतिहासकारों द्वारा इसका सूक्ष्म परीक्षण करने पर यह बात सामने आई कि तथाकथित 'सर्वहारा' की क्रांतिकारिता और समाजवादी दृष्टि पर संदेह व्यक्त किया जा सकता है। नए श्रम इतिहासकारों ने यह दिखाया कि औद्योगिक मजदूरों की मानसिकता और चेतना अन्य गरीबों के नजरिए से बहुत अलग नहीं होता जो शहरों और गांवों में दैनिक श्रम बाजार पर आश्रित होते हैं। मॉरिस डेविड मॉरिस ने *द इमरजेन्स ऑफ ऐन इंडस्ट्रियल लेबर फोर्स इंडिया : ए स्टडी ऑफ द बाम्बे कॉटन मिल्स 1845-1947* (बक्रले ऐंड लॉस एंजेल्स, 1965); आर.के.न्यूमैन, *वक्रस ऐंड यूनियन्स इन बाम्बे 1919-29: ए स्टडी ऑफ ऑरगनाइजेशन इन द कॉटन मिल्स* (कैनबेरा, 1981); सुजाता पटेल, *द मेकिंग ऑफ इंडस्ट्रियल रिलेशन्स द अहमदाबाद टेक्सटाइल इंडस्ट्री 1918-1939* (दिल्ली 1987) में पूंजी और श्रम के सहयोग पर आधारित मजदूर संघ का गांधीवादी मॉडल का अध्ययन किया गया; दीपेश चक्रवर्ती, *रिथिंकिंग वर्किंग क्लास हिस्ट्री: बंगाल 1890-1940* (प्रिनसटॉन, 1989) में निम्नवर्गीय प्रसंग के नजरिए से जूट मिल के श्रमिकों का अध्ययन किया गया है; और राजनारायण चंदवरकर *द ओरिजिन्स ऑफ इंडस्ट्रियल कैपिटलिज्म इन इंडिया: बिजनेस स्ट्रैटजीज ऐंड द वर्किंग क्लासेज इन बम्बई 1900-1940* (कैम्ब्रिज, 1994) में श्रम इतिहास को बिलकुल नए रूप में पेश किया। । दीपेश चक्रवर्ती के अनुसार मजदूरों की 'पदानुक्रम पूर्व-पूंजीवादी संस्कृति' के कारण उन्हें साम्प्रदायिकता के नाम पर आसानी से भड़काया जा सकता था और जो उन 'सरदारों' पर आश्रित थे जो उन्हें नौकरी दिलवाते थे। राजनारायण चंदावरकर ने दिखाया है कि ये मजदूर अपने पड़ोसी 'दादाओं' के कब्जे में थे। एक आधुनिक और कारगर मजदूर संघ में अपने को संगठित करने के बजाए गांव से मिल में काम करने आए ये मजदूर नौकरी दिलानेवाले और साम्प्रदायिक ताकतों के चंगुल में फंस जाते थे। उन्हें भड़काकर छोटी-मोटी हिंसा करवाई जाती थी जिसे आसानी से दबाया जा सकता था। मजदूरों की लंबी चलनेवाली हड़तालों का स्थान साम्प्रदायिक दंगों ने ले लिया।

सर हेनरी मेन ने *विलेज कम्यूनिटी इन द ईस्ट ऐंड वेस्ट* (लंदन, 1871) नामक अपनी पुस्तक में करार और वर्ग के बरक्स हैसियत और समुदाय के रूप में भारतीय समाज को देखा। अलग-अलग और आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदायों के चित्र को यहां भी जरूरत से ज्यादा विस्तृत कर प्रस्तुत किया गया। औपनिवेशिक शासन के विकसित होने के साथ-साथ भारतीय समाज के बारे में समझ भी विकसित हुई। कपिल कुमार (संपादन) *कांग्रेस ऐंड क्लासेज: नेशनलिज्म, वक्रर्स एंड पीजेन्ट्स* (नई दिल्ली, 1988) में यही दर्शाया गया है। औपनिवेशिक शासन की दीर्घावधि प्रभाव के फलस्वरूप नए राष्ट्रीय क्षेत्र में वर्ग की भूमिका सामने आई।

27.7 सारांश

औपनिवेशिक शासन के दौरान आंरभ से ही जमीन और कृषक वर्ग पर औपमिवेशिक अधिकारियों की गिद्ध दृष्टि लगी हुई थी। लगान सरकारी आय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत था और किसान खेतों में काम करते थे और कभी-कभी जमींदारों और सरकार के खिलाफ विद्रोह भी कर दिया करते थे। औपनिवेशिक सरकार की भूराजस्व पर निर्भरता के कारण किसानों पर कड़ा पहरा बिठाना अनिवार्य था। अतएव आरंभिक कृतियों में लगान व्यवस्था

का विवेचन किया गया। धीरे-धीरे इसके बाद औपनिवेशिक और पूर्व-औपनिवेशिक कालों के भू-बंदोबस्त और कृषक जीवन पर विद्वतापूर्ण और पूर्वाग्रहरहित अध्ययन किए गए।

औद्योगिक मजदूर वर्ग का जन्म अपेक्षाकृत बाद की घटना है। आधुनिक कल-कारखानों, बंदरगाहों और विनिर्माण गतिविधियों के बढ़ने से मजदूर वर्ग आकार ग्रहण करने लगा। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में आधुनिक उद्योगों और आधुनिक मजदूर वर्ग पर अध्ययन किए गए। देश के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत मजदूरों के विभिन्न पक्षों पर औपनिवेशिक सरकार द्वारा जुटाए गए साक्ष्यों से इस क्षेत्र में काम करनेवाले विद्वानों को मदद मिली।

हालांकि उनमें से ज्यादातर अध्ययन वामपंथी विद्वानों ने किया। परंतु इस क्षेत्र में दूसरे विद्वानों ने भी विभिन्न विषयों पर राय, मसलन कृषक समुदाय में बढ़ता ध्रुवीकरण, पूर्व-औपनिवेशिक युग में कृषि मजदूरों की अनुपस्थिति और आधुनिक मजदूर वर्ग को क्रांतिकारिता पर अपनी राय रखी जो उनकी राय से अलग थी।

27.8 अभ्यास

1) किसान और मजदूर वर्ग के इतिहास की शुरुआत कैसे हुई ? आजादी से पहले इन वर्गों से जुड़े इतिहास की चर्चा कीजिए।

2) आजादी के बाद किसानों और मजदूर वर्गों के इतिहासों का लेखा-जोखा प्रस्तुत कीजिए।

इकाई 28 जाति, जनजाति और लिंगभेद (जेंडर)

इकाई की रूपरेखा

28.1 प्रस्तावना

जब से भारतीय समाज का मानवशास्त्री और ऐतिहासिक लेखन आरंभ हुआ तब से जाति, जनजाति और जेन्डर के बीच निकट संबंध स्थापित हो गया। उपनिवेशवादी इतिहासकारों और मानवशास्त्रियों ने भारतीय समाज की जाति व्यवस्था की विशिष्टता को पहचाना और रेखांकित किया। उन्होंने यह भी देखा कि भारतीय समाज के एक हिस्से यानी आदिम कबीलों को समाज के जाति व्यवस्था में शामिल नहीं किया गया। जाति समाज कबीलाई समाज से कई मामलों में अलग थे। लैंगिक भेदभाव के मामले में जाति का संघटन कबीलाई संघटन से बिलकुल अलग है। इसके अलावा कबीलाई अर्थव्यवस्था भी जाति अर्थव्यवस्था से अलग है। दोनों ही प्रकार के समाजों में शादी विवाह भी अलग ढंग से होते हैं। बाहर से देखने पर यह भी प्रतीत होता है कि दोनों ही समाजों में यौन संबंधों का भी फर्क है। जाति समाज की शुद्धता और प्रदूषण भी कबीलाई समाज में नहीं पाई जाती है। कबीलाई समाज में आनुष्ठानिक पदानुक्रम भी देखने को नहीं मिलता। इसी प्रकार कबीलाइयों की लैंगिक व्यवस्था जाति समाज की विवाह संरचना से अलग होती है। वस्तुतः जाति व्यवस्था में लैंगिक भेदभाव का एक विशिष्ट स्वरूप देखने को मिलता है। आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि लैंगिक भेदभाव में जाति और समाज के अन्तरभूत रिश्ते को भारतीय समाज और इतिहास का अध्ययन करते समय अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। जाति से संबंधित ऐतिहासिक और मानवशास्त्री साहित्य बड़े पैमाने पर मिलता है और यह व्यवस्था काफी लंबे समय से चली आ रही है। अभी हाल में लैंगिक भेदभाव से संबंधित अध्ययन और महिलाओं के इतिहास पर भी नए ढंग से काम शुरु हुआ है। भारंतीय इतिहास-लेखन में जनजातियों को महत्व नहीं दिया गया है। परंतु कबीलों से संबंधित काफी मात्रा में मानवशास्त्रीय साहित्य उपलब्ध हैं जिसमें कुछ ऐतिहासिक सामग्री भी शामिल है।

दलित या अस्पृश्य भारतीय राजनीति की महत्वपूर्ण ताकत बनकर उभरे। इसलिए उनकी हालत और स्थिति को लेकर इधर कई अनुसंधानकर्ताओं ने अध्ययन किया है। उत्तर पूर्वी पहाड़ी राज्यों को छोड़कर बाकी देश की राजनीति में आदिवासियों या आदिम कबीलों का इतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। इसीलिए कबीलाई इतिहास पर अपेक्षाकृत कम अनुसंधान हुए हैं। दूसरी ओर महिलाओं की दशा और दिशा की ओर पर्याप्त अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान आकृष्ट हुआ है। नारीवादी आदोलन भी इसका एक प्रमुख कारण है। इस आंदोलन के फलस्वरूप इस विषय पर आम जनता का भी ध्यान आकृष्ट हुआ है।

28.2 जाति की खोज

भारत के औपनिवेशिक अंग्रेज प्रशासन ने भारतीय समाज को समझने के लिए जाति की अवधारणा को समझने का प्रयास किया। अंग्रेजों ने पूर्तगाली शब्द *casta* से caste (जाति) शब्द अपनाया। आरंभ में पुर्तगालियों ने कास्टा नामक सामाजिक संस्था को परखने का प्रयास किया जिससे 'कास्ट सिस्टम' अर्थात जाति-व्यवस्था की अवधारणा सामने आई। यह उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान सम्पन्न हुआ जब औपनिवेशिक प्रशासन ने जाति व्यवस्था के संदर्भ में सम्पूर्ण सामाजिक बनावट (जिसमें कबीले शामिल नहीं थे) को समझने का प्रयास किया। औपनिवेशिक प्रशासकों ने जाति व्यवस्था पर कच्चे पक्के ढंग से अपनी राय प्रकट की और उन्होंने मुसलमानों और इसाइयों में भी इसे ढूंढ निकाला।

पुर्तगाली लेखक दुआर्ते बारबोसा 1518 ई. में द बुक ऑफ दुआर्ते बारबोसा *ऐन एकाउंट ऑफ द कन्ट्रीज बॉर्डरिंग ऑन द इंडियन ओसन ऐंड देयर इनहेबिटेन्टस* नामक यात्रा संस्मरण लिखा जिसका अनुवाद एम.एल.डेम्स (लंदन,1916) ने अंग्रेजी में किया। इस यात्रा विवरण में पहली बार इस व्यवस्था का जिक्र किया गया था। परंतु सबसे पहले एक फ्रांसीसी मिशनरी एब दुबुआ ने जाति व्यवस्था की अवधारणा सामने रखी थी। 1816 में उसने 'डेस्क्रिपशन्स ऑफ द कैरेक्टर, मैनर्स ऐंड कस्टम्स ऑफ द पिपुल ऑफ इंडिया ऐंड ऑफ देयर इन्सिच्यूशन्स, रेलिजियस ऐंड सिविल' लिखा जिसका अनुवाद हेनरी के.वेशाम्प ने *हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स ऐंड सेरेमोनिज* (ऑक्सफोर्ड, 1906) के नाम से किया। उन्होंने पहली बार भारत की जाति व्यवस्था के बारे में लिखा। उन्होंने लिखा कि 'मुझे ऐसा लगा कि भारतीय समाज जाति व्यवस्था में बंटे होने के कारण बर्बरता की स्थिति से मुक्त रहा और उसमें सभ्यता की कला और विज्ञान के तत्व बरकरार रहे जबकि पूरी दुनिया के अन्य राष्ट्र बर्बरता की स्थिति में थे'। लेकिन अन्य ईसाई मिशनरी भारत की जाति व्यवस्था की सभ्यतागत विशिष्टता के बारे में दुबुआ के विचार को स्वीकार नहीं करते थे और 1850 में मद्रास में हुए मिशनरी कान्फ्रेंस में यह कहा गया कि 'जाति व्यवस्था भारत में ईसाई धर्म के प्रचार प्रसार में सबसे बड़ी बाधा है'। भारतीय समाज सुधारकों ने हालांकि पूरी तरह से जाति व्यवस्था को नहीं नकारा परंतु उन्होंने इस संस्था के हानिकारक सामाजिक परिणामों पर प्रकाश डाला।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में औपनिवेशिक सामाजिक मानवशास्त्र में जाति के उदभव और कार्यों पर विस्तार से बहस की गई। 1881 की जनगणना के आधार पर पंजाब और उत्तर पश्चिमी प्रांतों तथा अवध से प्राप्त अपने रिपोर्टों के आधार पर दो औपनिवेशिक प्रशासकों ने जाति को मूलतः एक रूढ़ पेशेवर व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित किया था। ये सरकारी रिपोर्ट डेंजिल इब्बटसन की *रिपोर्ट ऑन द सेंसस ऑफ द पंजाब (1883)*, जिसे *पंजाब कास्ट्स* के रूप में पुनः प्रकाशित किया गया (लाहौर, 1916) और जॉन सी.नेसफिल्ड की *ब्रिफ व्यू ऑफ द कास्ट सिस्टम ऑफ द नॉर्थ-वेस्टर्न प्रोविन्सेज ऐंड अवध, टूगेदर विथ ऐन एक्जामिनेशन ऑफ नेम्स ऐंड फिगर्स शोन इन द सेन्सस रिपोर्ट* (एलाहाबाद,1885) ने तैयार की थी। एच.एच. रिजले नामक बंगाल के एक मेधावी ब्रिटिश अधिकारी ने इस मत से अपनी असहमति व्यक्त की और जोरदार ढंग से अपनी यह बात सामने रखी कि जाति का संबंध प्रजाति अर्थात् रेस या नस्ल से है और इसे आर्यों द्वारा भारत के मूल निवासियों पर आधिपत्य में ढूंढा जाना चाहिए। सभी औपनिवेशिक अधिकारी उसके इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। रिजले ने अपना यह मत *द ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ बंगाल*, 2 खंड (कलकत्ता, 1892) और *द पिपुल ऑफ इंडिया* (कलकत्ता, 1908) में विस्तार से प्रस्तुत किया था। इब्बटसन और नेसफिल्ड से सहानुभूति रखनेवाले एक अधिकारी विलियम क्रूक ने रिजले के प्रजाति सिद्धांत का विरोध किया और अपनी कृति *ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ द नॉर्थवेस्टर्न प्रोविन्सेज ऐंड अवध*, 4 खंड (कलकत्ता, 1896) में पेशागत मापदंड पर जोर दिया। जाति के उद्भव संबंधी उनके मतभेदों के बावजूद उस समय तक

आधिकारिक तौर पर यह मान लिया गया था कि भारतीय समाज को समझने के लिए और उसका विश्लेषण करने के लिए जाति को एक मुख्य अवधारणा के रूप में स्वीकार करना अपरिहार्य है। रिजले ने जनगणना के आधार पर सामाजिक पदानुक्रम बनाने का जो सिलसिला शुरु किया उससे जाति समुदायों में अपने ओहदे और पदानुक्रम को लेकर होड़ मच गई।

शनैः-शनैः औपनिवेशिक प्रशासन ने इन विभिन्न जातियों में राजनीतिक वैमनस्य पैदा करने को प्रोत्साहित किया और कुचले हुए वर्गों के लिए विधान सभा में अलग से प्रतिनिधित्व देने का प्रस्ताव रखा। महात्मा गांधी ने इसका विरोध किया और इस प्रस्ताव के खिलाफ आमरण अनशन कर दिया। इसके बाद सवर्ण हिन्दू जाति और दलितों के नेता बी.आर.अम्बेडकर के बीच समझौता हुआ। भारतीय विद्वानों के साथ-साथ विदेशी विद्वानों ने भी जाति व्यवस्था और उसके विश्लेषण में गहरी रुचि दिखाईः नृपेन्द्र कुमार दत्त, *ओरिजिन ऐंड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इंडिया* (लंदन, 1931); जे.एच.हट्टन, *कास्ट इन इंडिया इट्स नेचर, फंक्शन ऐंड ओरिजिन्स* (कैम्ब्रिज, 1946) और जी.एस.घुर्ये, *कास्ट ऐंड क्लास इन इंडिया* (बम्बई, 1950)। हालांकि इनमें से कोई पेशेवर इतिहासकार नहीं था परंतु इन तीनों ने ही जाति के उद्भव और अर्थ को ढूंढने का प्रयास किया। हट्टन जो कि 1931 में जनगणना आयुक्त था ने जाति के प्रजाति और रोजगारमूलक सिद्धांतों से अपनी असहमति व्यक्त की। उनके अनुसारः

> 'वस्तुस्थिति यह है कि समय-समय पर भारत में कई लोग आकर बस गए। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों और अलग-अलग रीति-रिवाजों से युक्त कई समाज यहां आते गए और कारवां बनता गया। इन समाजों में आपसी रिश्ता बना और साथ ही साथ उनकी व्यक्तिगत पहचान भी कायम रही। विभिन्न संस्कृतियों के बीच तालमेल बिठाने के क्रम में जाति व्यवस्था बनती चली गई।'

आजादी के बाद भी जाति की प्रकृति पर विचार जारी रहा। लुइ ड्यूमों ने अपनी आधुनिक श्रेष्ठ कृति *होमो हायराक्रिकसः* (1967, अंग्रेजी अनुवाद 1970) में यह तर्क दिया गया कि शुद्धता-प्रदूषण पदानुक्रम, जिसके तहत सभी जातियों का आपसी संबंध और रिश्ता तय होता है, जाति व्यवस्था की मुख्य विशिष्टता है। दूसरी ओर, मॉर्टन क्लास ने अपनी कृति *कास्ट, द इमरजेन्स ऑफ द साउथ एशियन सोशल सिस्टम* (1980) में लिखा है कि कुल मिलाकर जाति वैवाहिक समूहों से परिभाषित होती है, और पेशा या बाकी विशिष्टताओं का महत्व गौण है।

28.3 उपनिवेशवादी नृशास्त्र और जनजातियां

औपनिवेशिक युग में जाति व्यवस्था पर विचार करते हुए आमतौर पर यह मान लिया गया कि समय-समय पर विभिन्न जनजातियां जातियों में तब्दील होती गई और जाति व्यवस्था बनती चली गई। परंतु औपनिवेशिक प्रशासन को यह भी पता चला कि कई आदिम कबीले अभी भी मौजूद थे और उनका अपना अस्तित्व कायम था। माना जाता था कि समाज से अलग-अलग पड़े ये कबीले वन उत्पाद पर आश्रित थे और बदल-बदल कर खेती किया करते थे। उनके बारे में यह भी धारणा थी कि वे सरल और पिछड़े लोग थे और बात-बात पर हिंसा पर उतारू हो जाते थे। कबीलों के जीवन को नजदीक से देखकर पता चलता है कि उनकी परिस्थितियां अलग-अलग थीं और कइयों ने बसकर खेती भी शुरु कर दी थी। आरंभिक औपनिवेशिक मानवशास्त्र में कबीलों के उद्भव और इतिहास पर प्रकाश डाला गया। छोटानागपुर के आयुक्त कर्नल ई.टी. डाल्टन ने उस वन्य क्षेत्र को नजदीक से देखा था जिसे आज के झारखंड के संथाल परगना के नाम से जाना जाता है। उन्होंने पहली बार कबीलों का इतिहास और मौजूदा स्थितियों पर काम किया। उनकी पुस्तक *डेस्क्रिप्टिव एथोनोलॉजी ऑफ बंगाल* (कलकत्ता, 1872) इस ढंग की पहली किताब थी।

कर्नल डॉल्टन के बाद बिहार निवासी एक गैर पेशेवर बंगाली मानवशास्त्री की उसी क्षेत्र के कबीलों में रूचि थी जहां डॉल्टन आयुक्त रह चुका था। उनका नाम शरत चंद्र राय था। उन्होंने विस्तार से छानबीन की और मानवशास्त्र को एक अनुशासन के रूप में आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने छोटानागपुर के कबीलों पर कई लेख लिखे। गौरतलब है कि उस समय छोटानागपुर बिहार और उड़ीसा के अंतर्गत आता था। कर्नल डॉल्टन के समय पूरा क्षेत्र, आज का झारखंड राज्य, बड़े बंगाल प्रेसिडेंसी का हिस्सा था। अलग-अलग समयों में अलग-अलग प्रशासनों के अंतर्गत रहनेवाले इस क्षेत्र का परिवेश और माहौल बिलकुल अलग था। यह एक जंगली पठार था और जाति व्यवस्था समाज व्यवस्था का मुख्य हिस्सा नहीं बन सकी थी। कुछ वन्य जनजातियों के अपने राजा थे, कुछ का नेतृत्व स्थानीय सरदार किया करते थे। संथाल परगना के संथालों और छोटानागपुर मंडल में मुंडाओं की आबादी सर्वाधिक थी। कृषि इतिहास से संबंधित अपनी प्रमुख कृति *द एनल्स ऑफ रूरल बंगाल* (1868) में डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर ने 1855 के संथाल विद्रोह का जिक्र किया है। शरत चंद्र ने मुंडाओं को केंद्र में रखकर अपनी पुस्तक *द मुंडाज ऐंड देयर कन्ट्री* (कलकत्ता, 1912) में उनका मानवशास्त्रीय अध्ययन किया। उन्होंने इस क्षेत्र में अपना अनुसंधान जारी रखा और दो और कृतियां *द ओरांव्स ऑफ छोटानागपुरः देयर हिस्ट्री; इकोनोमिक लाइफ ऐंड सोशल ऑरगनाइजेशन* (रांची, 1915); *और द बिरहोर्सः ए लिटलनोन जंगल ट्राइब ऑफ छोटानागपुर* (रांची, 1925) प्रकाशित कीं। डॉल्टन ने जनजातियों के खुशनुमा जीवन पर टिप्पणी की है। राय ने बतलाया कि कबीलों में हर अविवाहित युवा पुरुष की एक प्रेमिका हुआ करती थी।

इस समय तक यह स्पष्ट हो गया था कि चिर परिचित जाति समाज की तुलना में कबीलाई समाज का यौन संबंधों का ढांचा बिलकुल अलग था। वेरियर एल्विन नामक मिशनरी ने कबीलों के जीवन पर डूब कर लिखा है और उनसे अपनी सहानुभूति भी प्रकट की है। उन्होंने *घोटूल* नामक एक संस्था का जिक्र किया है जिसमें बिना किसी प्रतिबंध के मिलन सम्पन्न होता था। उनके अनुसार पूरे भारत के कबीलाई समाज में तलाक बेहद आसान था और आमतौर पर पत्नी और पति को समान अधिकार प्राप्त था। *द बैगा* (1939), *द मुरिया ऐंड देयर घोटूल* (बम्बई, 1947) और *द बोन्दो हाइलैंडर* (लंदन, 1950) उनकी प्रमुख कृतियां हैं। उनकी कृतियों की विशिष्टता यह है कि उन्होंने कबीलों के मनःस्थिति और परिस्थिति को गीतों के माध्यम से चित्रित किया है। उनकी कृति में संकलित एक बैगा गीत का नमूना द्रष्टव्य है :

कहीं किसी घर में खाना है

कहीं किसी घर में धन है

परंतु हर घर में यौवन और आकांक्षा है।

इन पंक्तियों को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि कबीले भौतिक रूप से बहुत समृद्ध नहीं थे और उनका जीवन आसान नहीं था परंतु उनका सामाजिक संगठन इस प्रकार निर्मित किया गया था जिसमें जीवन के नैसर्गिक आनन्द के लिए पर्याप्त अवकाश था।

कुछ आरंभिक औपनिवेशिक मानवशास्त्रियों ने भी कबीलों का इतिहास लिखा परंतु एक गैर साक्षर समाज से वास्तविक ऐतिहासिक सामग्री मिलना मुश्किल था। ए.आर.रैडक्लिफ ब्राउन ने अपनी महत्वपूर्ण मानवशास्त्रीय कृति *एंडमान आइसलैंडर्स* (1922) में किसी भी प्रकार के अनुमानित इतिहास लिखने को खारिज करते हुए यह कहा कि कबीलाई समाज का अध्ययन उसके वर्तमान स्वरूप के अनुसार ही किया जाना चाहिए और मानवशास्त्री को इसे ही आधार के रूप में अपनाना चाहिए। कबीलों का इतिहास निर्मित करने में सबसे बड़ी दिक्कत यही है कि इसमें अनुसंधान का मुख्य केंद्र मानवशास्त्रीय अध्ययन ही होता है। भारतीय मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण के तहत किए गए कार्यों से इस प्रवृत्ति की पुष्टि होती है। परंतु यही मानवशास्त्रीय दस्तावेज एक मूल्यवान ऐतिहासिक दस्तावेज बनते चलते हैं

और धीरे-धीरे उनकी स्थितियों का आकलन करने में सुविधा होती है। स्वातंत्रोत्तरकालीन भारत में उनकी स्थिति बद से बदतर होती चली गई और इन दस्तावेजों के आधार पर उनकी स्थिति में आए बदलावों को रेखांकित किया जा सकता है।

28.4 निम्नजाति और जनजातीय प्रतिरोध

निम्न जातियों और कबीलों के अध्ययन की शुरुआत करते ही इतिहासकारों ने औपनिवेशिक काल के दौरान उनके दमन और विरोध के प्रश्न पर बल देना शुरु किया। दोनों ही समुदाय हाशिए पर थे और दोनों के खिलाफ भेदभाव बरता गया था। परंतु समय-समय पर उनके बीच वैचारिक नेतृत्व पैदा हुआ और उन्होंने शासकों के विरोध में आंदोलन किए जिनसे जुड़े दस्तावेज औपनिवेशिक अभिलेखागार में सुरक्षित हैं। कहीं-कहीं निम्नजातियों के अपने वक्तव्य और दृष्टिकोण भी उपलब्ध हो जाते हैं। रोजालिन्ड ओ हैनलान ने *कास्ट, कॉनफ्लिक्ट ऐंड आइडियोलॉजी : महात्मा ज्योतिराव फुले ऐंड लो कास्ट प्रोटेस्ट इन नाइन्टीन्थ सेंचुरी वेस्टर्न इंडिया* (कैम्ब्रिज, 1985); और शेखर बंधोपाध्याय ने *कास्ट, प्रोटेस्ट ऐंड आइडेन्टीटी इन कोलोनियल इंडियाः द नामशूद्राज ऑफ बंगाल 1872-1947* (रिचमॉन्ड, 1997) में इस प्रकार की सामग्री का उपयोग करते हुए समूह विशेष के दृष्टिकोण से बयान किया गया है। निम्नजातियों और कबीलों में लैंगिक लोकाचार उच्चजाति की नैतिकताओं से भिन्न होते हैं। ओ हैनलन और बंधोपाध्याय लैंगिक भेदभाव से जुड़े कारक को नहीं भूले हैं। उन्होंने यह दिखाया है कि किस प्रकार महाराष्ट्र में गैर ब्राह्मण आंदोलन और बंगाल में नामशूद्र आंदोलन ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में सामाजिक सुधार और राजनीतिक राष्ट्रवाद जैसे बृहद मुद्दों पर अपना पक्ष दृढ़ता से सामने रखा और अपनी बात मनवाई थी।

गौरतलब है कि भारतीय उपमहाद्वीप में खासतौर पर महाराष्ट्र और तमिल क्षेत्र में होनेवाले गैर ब्राह्मण आन्दोलन समाज के सबसे नीचले तबके के आंदोलन नहीं थे। ऐतिहासिक साहित्य को देखने से गैर ब्राह्मण आंदोलन और दलित आंदोलन का फक्र बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। अमेरिकी इतिहासकार यूजिन एफ. इरशिक का मानना था कि औपनिवेशिक भारतीय राजनीति में जाति ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने अपनी पुस्तक *पॉलिटिक्स ऐंड सोशल कॉनफ्लिक्ट इन साउथ इंडियाः द नॉन ब्राह्मण मुवमेंट ऐंड तमिल सेपरेटिज्म* (बक्रले ऐंड लॉस एंजिल्स 1969) में उन्होंने गैर ब्राह्मण जातियों को अछूत आदि द्रविड़ों से अलग रखा। उन्होंने दिखाया कि तमिल प्रदेश में हुआ गैर ब्राह्मण आंदोलन कांग्रेस के ब्राह्मण वर्चस्व वाले राष्ट्रवादी आंदोलन के खिलाफ मध्यवर्ती जातियों का प्रतिरोध आंदोलन था। मध्यवर्ती गैर ब्राह्मण जातियों से ज्यादा नीची जातियों के प्रति भेदभाव की दृष्टि अपनाई जाती थी। वे अछूत जाति के थे और उनका दमन और उत्पीड़न ज्यादा होता था। समाज के इसी तबके से औपनिवेशिक भारत के अंतिम दौर में बी.आर.अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित आंदोलन का उदय हुआ। महाराष्ट्र क्षेत्र में गैर ब्राह्मण आंदोलन भी हुए और दलित आंदोलन भी। गेल ऑमवेट ने अपनी दो अलग-अलग कृतियों में इन पर अलग-अलग विचार किया है। ये कृतियां हैं : *कल्चरल रिवोल्ट इन कोलोनियल सोसाइटीः द नॉन-ब्राह्मण मुवमेंट इन वेस्टर्न इंडिया, 1873-1930* (बम्बई, 1976); और *दलित्स ऐंड द डेमोक्रेटिक रिवॉल्यूशनः डॉ. अम्बेडकर ऐंड द दलित मुवमेंट इन कोलोनियल इंडिया* (नई दिल्ली, 1994)। इलिनर ज़ेलियट ने अपनी पुस्तक *फ्रोम अनटचेबुल टू दलितः एस्सेज ऑन द अम्बेडकर मुवमेंट* (नई दिल्ली, 1992) में दलित आंदोलन पर विचार किया है।

खासतौर पर बंगाल के अंदरूनी भागों में रहनेवाले कबीलों के आंदोलन अक्सर उग्र हो जाया करते थे। कबीले समाज के मुख्य धारा में शामिल नहीं हो सके थे और वे औपनिवेशिक राज्य की शक्ति को पूरी तरह से आंक नहीं पाए थे। अक्सर उनके विद्रोह खून के दरिया में डूब जाते थे। हमने देखा है कि डब्ल्यू.डब्ल्यू. हन्टर ने अपनी पुस्तक *एनल्स ऑफ रूरल बंगाल*

में संथाल विद्रोह का वर्णन तो किया है परंतु इसका परिणाम क्या हुआ इस पर चुप्पी साध लिया है। इसके बाद जनजातीय प्रतिरोध आंदोलनों पर बहुत ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया। अधिक संगठित राष्ट्रवादी राजनीति और निम्नजाति के विरोध पर ध्यान केंद्रित किया गया। हाल के वर्षों में जनोन्मुखी इतिहास-लेखन के तहत जनजातीय विद्रोहों पर विशेष ध्यान दिया गया। इस प्रकार के अध्ययनों में के.एस.सिंह के *डस्ट स्टॉर्म ऐंड हैंगिंग मिस्टः द स्टोरी ऑफ बिरसा मुंडा ऐंड हिज मुवमेंट* (कलकत्ता, 1966); और जे.सी.झा, *ट्राइबल रिवोल्ट ऑफ छोटानागपुर, 1831-32* (पटना, 1987) उल्लेखनीय कृतियां हैं। इन दोनों ही कृतियों में छोटानागपुर पठार के कोल विद्रोहों का विवेचन किया गया है। भारत के इतिहासकारों ने उत्तर पूर्वी पहाड़ी राज्यों के कबीलों पर बहुत कम ध्यान दिया है। कई वर्ष पहले मानवशास्त्री क्रिस्टोफ वॉन फ्यूरर हेमेनड्रोफ ने *द नेकेड नागाजः हेड हन्टर्स ऑफ असाम इन पीस ऐंड वार* (कलकत्ता, 1946) नामक प्रसिद्ध कृति लिखी थी। अभी हाल में ही उत्तरपूर्व में उत्तरीपूर्वी पहाड़ियों के इतिहास पर काम शुरु हुआ है और आधुनिक अनुसंधान के मौजूदा प्रवृत्तियों के समान लैंगिक भेदभाव जैसे सामाजिक कारकों को अनुसंधान का आधार बनाया गया है। फ्रेडरिक एस.डाउन्स की पुस्तक *द क्रिश्चन इम्पैक्ट ऑन द स्टेटस ऑफ विमेन इन नॉर्थ ईस्ट इंडिया* (शिलॉग, 1996) इस दृष्टि से उल्लेखनीय कृति है।

28.5 क्या जाति और जनजाति यथार्थ हैं ?

उत्तर आधुनिकतावादी इतिहासकारों ने 'जाति' और 'जनजाति' जैसे वर्गीकरणों की वास्तविकता पर प्रश्नचिह्न लगाया है। उनके अनुसार भारत और अफ्रीका पर विचार करते समय औपनिवेशिक प्रशासकों ने इस प्रकार का वर्गीकरण किया था। एरिक हॉब्सबॉम और टेरेन्स रैंजर (संपा.) *द इन्वेन्शन ऑफ ट्रेडीशन* (कैम्ब्रिज, 1983) में यह तर्क दिया गया है कि 'जनजाति' औपनिवेशिक कल्पना की उपज है। अफ्रीकी इतिहासकार टेरेन्स रैंजर ने डार्क कॉन्टिनेन्ट के संदर्भ में यह बात कही। परंतु भारतीय उपमहाद्वीप में भी 'जनजातिवाद के आविष्कार' की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। रोनाल्ड इन्डेन ने *इमैजिनिंग इंडिया* (ऑक्सफोर्ड, 1990) और निकोलस बी. डर्क ने *कास्ट्स ऑफ माइन्डः कोलोनियलिज्म ऐंड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया* (प्रिन्सटन, 2001) में यह बात कही है कि जाति भी औपनिवेशिक विमर्श का एक परिणाम था और पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास का स्वाभाविक विकास नहीं था। उत्तर आधुनिकतावादियों के अलावा कोई भी इन तर्कों से सहमत नहीं है। इतिहासकार जनजाति, जाति और धार्मिक समुदाय जैसे वर्गीकरण की अनिवार्यता के खतरे को समझते हैं और इन समूहों के बारे में औपनिवेशिक मानवशास्त्र में शामिल मनगढ़ंत तत्वों से भी वाकिफ हैं। इसके बावजूद भारतीय इतिहास को समझने समझाने में 'जनजातिवाद' और 'जातिवाद' से मुक्ति नहीं पाई जा सकती। विनय भूषण चौधरी ने अपने लेख 'ट्राइबल सोसाइटी इन ट्रान्जिशनः ईस्टर्न इंडिया, 1757-1920' जो मुशरूल हुसन और नारायनी गुप्ता की संपादित पुस्तक *इंडियाज कोलोनियल इन्काउंटरः एस्सेज इन मेमोरी ऑफ एरिक स्टोक्स* (नई दिल्ली, 1993) में संकलित है, में इस बात पर बल दिया है कि कबीलाई समाज एक वास्तविक सामाजिक कोटि है। लायड आई. रूडाल्फ और सुजैन एच.रूडाल्फ ने *मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडिशनः पोलिटिकल डेवेल्पमेंट इन इंडिया* (शिकागो, 1967) में यह बात कई साल पहले स्पष्ट कर दी थी कि औपनिवेशिक भारत में जाति ने नया रूख अख्तियार किया। अतः यह बात सामने आई कि औपनिवेशिक भारत में जाति की पुनर्व्याख्या की गई। जॉन गालाघर, गॉर्डन जॉनसन और अनिल सील (संपादक) *लोकलिटी, प्रोविन्स ऐंड नेशनः एस्सेज इन इंडियन पोलिटिक्स, 1870 से 1940* (कैम्ब्रिज, 1970) में यह तर्क दिया गया कि औपनिवेशिक काल की राजनीति में यह दूसरे प्रकार के हितों की पूर्ति की आड़ बना। परंतु औपनिवेशिक काल के दौरान राजनीति में जाति एक वास्तविक कारक के रूप में उभरा, इससे डर्क जैसे उत्तर आधुनिकतावादी इतिहासकार भी इनकार नहीं करते। महत्वपूर्ण बात यह थी कि इन वर्गीकरणों को हू ब हू और अनिवार्य तौर पर ग्रहण नहीं किया गया। डर्क के अनुसार आज

जाति जिस रूप में हमारे सामने उपस्थित है वह प्राचीन भारत की विरासत नहीं है बल्कि जाति एक आधुनिक परिघटना है जो खासतौर पर भारत और पश्चिमी औपनिवेशिक शासन के ऐतिहासिक टकराव का परिणाम है। हालांकि नारीवादी इतिहासकारों ने पूर्व-औपनिवेशिक भारतीय समाज का अध्ययन करते हुए यह पाया कि उस समय भी महिलाओं पर दमन हुआ करते थे। उमा चक्रवर्ती *रिराइटिंग हिस्ट्री: द लाइफ ऐंड टाइम्स ऑफ पंडिता रमाबाई* (नई दिल्ली, 1998) में पेशवा के जमाने में महाराष्ट्र में इस स्थिति का हवाला देते हुए बताती हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर में पंडिता रमाबाई के समय में भी यही स्थिति मौजूद थी। इससे लैंगिक भेदभाव का मसला सामने आता है।

28.6 लैंगिक भेदभाव

औपनिवेशिक शासनकाल के दौरान दो विवादास्पद पुस्तकों ने भारत में महिलाओं के प्रश्न पर अंतर्राष्ट्रीय ध्यान आकृष्ट किया। पंडिता रमाबाई ने *द हाई कास्ट हिन्दू विमेन* (1887) और कैथेरिन मेयो ने *मदर इंडिया* (1927) में भारतीय सभ्यता में महिलाओं की परिस्थिति की कड़ी आलोचना की। बी.सी.लॉ ने *विमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर* (1927); आई.बी.हॉर्नर ने *विमेन अन्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म* (1930); और ए.एस.अल्टेकर ने *द पोजिशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन फ्रोम द प्रिहिस्टोरिक टाइम्स टू द प्रेजेन्ट* (1938) में काफी पहले भारतीय सभ्यता में महिलाओं की स्थिति पर गंभीरता से विचार किया था।

नारीवादी आंदोलन और 1975 में अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष की शुरुआत होने के बाद महिला आंदोलन के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। बी.आर.नन्दा के संपादन में निकली पुस्तक *इंडियन विमेन: फ्रोम पर्दा टू मॉडरनिटी* (नई दिल्ली, 1976) इस दिशा में एक प्रमुख पहल थी। परंतु जल्द ही महिलाओं के इतिहास का आधार विस्तृत हुआ और लैंगिक भेदभाव से जुड़ा इतिहास जटिल रूप लेने लगा। महिलाओं का अलग से अध्ययन करने के बजाए इतिहासकारों ने समाज में स्त्री और पुरुष के बीच के शक्ति संबंधों के संदर्भ में इस समस्या का अध्ययन करने लगे। कुमकुमसंगारी और सुदेश वैद के संपादन में निकली पुस्तक *रिकास्टिंग विमेन: एस्सेज इन कोलोनियल हिस्ट्री* (नई दिल्ली, 1989) एक महत्वपूर्ण कृति थी जिसने लैंगिक भेदभाव से जुड़े इतिहास-लेखन का सूत्रपात किया। इसके बाद लेखों के कई संग्रह निकले जिन्होंने लैंगिक भेदभाव को नए परिष्कृत रूप में रखा। मसलन, जे.कृष्णामूर्ति (संपा.) *विमेन इन कोलोनियल इंडिया: एस्सेज ऑन सरवाइवल, वर्क ऐंड द स्टेट* (नई दिल्ली, 1989); भारती राय (संपा.), *फ्रोम द सीम्स ऑफ हिस्ट्री: एस्सेज ऑन इंडियन विमेन* (नई दिल्ली, 1995); और अपर्णा बसु और अरूप तनेजा (संपा.) *ब्रेकिंग आउट ऑफ इनविजिबिलिटी: विमेन इन इंडियन हिस्ट्री* (नई दिल्ली, 2002)। सुजी थारू और के. ललिता के संपादन में निकली पुस्तक *विमेन राइटिंग इन इंडिया 600 बी.सी. टू द प्रेजेन्ट* (2 खंड, नई दिल्ली, 1991-1993) में विभिन्न युगों में महिलाओं की अभिव्यक्तियों को शामिल किया गया। जुलिया लेसली ने *द परफेक्ट वाइफ द अर्थोडॉक्स हिन्दू विमेन एकॉर्डिंग टू द स्त्रीधर्मपद्धति ऑफ ट्राइअम्बक्याज़्वान* (1989) और बारबरा मेटकाफ ने *परफेक्टिंग विमेन, मौलाना अशरफ अली थानावीज बिहिश्ती ज़ेवर* (1990) में क्रमशः हिन्दू और मुस्लिम महिलाओं की स्थिति का आलोचनात्मक परीक्षण किया गया है।

महिला आंदोलन में बंगाल ने अगुआ की भूमिका निभाई। इसीलिए औपनिवेशिक बंगाल में लैंगिक भेदभाव से संबंधित कई पुस्तकें निकलीं। इन कृतियों में महत्वपूर्ण हैं : उषा चक्रवर्ती, *कंडिशन ऑफ बंगाली विमेन एराउंड द सेकेन्ड हाफ ऑफ द नाइनटीन्थ सेंचुरी* (कलकत्ता, 1963); गुलाम मुरशिद, *रिलेक्टेन्ट डेब्यूटेन्ट: रेस्पॉन्स ऑफ बंगाली विमेन टू मॉडरनाइजेशन 1949-1905* (प्रिन्सटन, 1984); *मालविका कर्लेकर, वायसेज फ्रोम विदिन* (दिल्ली, 1991); बारबरा साउथर्ड, *द विमेन्स मुवमेंट ऐंड कोलोनियल पोलिटिक्स इन बंगाल: द क्वेस्ट फॉर पोलिटिकल राइट, एडुकेशन ऐंड सोशल रिफॉर्म लेजिसलेशन* (192-136) (दिल्ली, 1996);

और सोनिया निशात आमीन, *द वर्ल्ड ऑफ मुस्लिम विमेन इन कोलोनियल बंगाल 1876-1939* (लिडेन, 1996)। भारत के अन्य प्रांतों में भी इस दिशा में काम किया गया है। मसलन प्रेम चौधरी, *द वेल्ड विमेनः शिफ्टिंग जेन्डर इक्वेशन्स इन रूरल हरियाणा 1880-1990* (दिल्ली, 1994); सीता अनन्थारामन, *गेटिंग गर्ल्स टू स्कूलः सोशल रिफॉर्म इन द तमिल डिस्ट्रिक्ट्स 1870 - 1930* (1996) और गेल मिनॉल्ट, *शिड्युल्ड स्कॉलर्सः विमेन्स एडुकेशन ऐंड मुस्लिम सोशल रिफॉर्म इन कोलोनियल इंडिया* (दिल्ली, 1998)। *द न्यू कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया* सीरीजः जेराल्डीन फोर्ब्स, *विमेन इन मॉडर्न इंडिया* (कैम्ब्रिज, 1996) में आधुनिक काल में भारतीय महिलाओं का सामान्य अध्ययन किया गया है।

हाल में लैंगिक भेदभाव के इतिहास को और व्यापक बनाया गया और इसमें केवल महिलावाद पर ही विचार नहीं किया गया बल्कि पुरुषत्व पर भी विचार किया गया। मृणालिनी सिन्हा की पुस्तक *कोलोनियल मैसकुलिनिटीः द 'मैनली इंगलिशमैन' ऐंड द 'इफेमिनेट बंगाली' इन द लेट नाइनटीन्थ सेंचुरी* (मैनचेस्टर, 1995) इसका एक उदाहरण है। अब लैंगिक भेदभाव के इतिहास के साथ-साथ प्रजाति, समुदाय, जाति और जनजाति जैसे पक्ष भी जुड़ गए हैं। सामाजिक अध्ययन के दो क्षेत्र आपस में मिल गए हैं और एक समृद्ध इतिहास-लेखन की शुरुआत हुई।

28.7 सारांश

भारतीय समाज को समझने के लिए औपनिवेशिक प्रशासन ने संभवतः जाति को सबसे महत्वपूर्ण कोटि के रूप में स्वीकार किया। मुसलमानों और ईसाइयों को शामिल करते हुए पूरे भारतीय समाज को जाति व्यवस्था के ढांचे में देखा गया। केवल कबीलों को इसमें शामिल नहीं किया गया। हालांकि कुछ आरंभिक लेखकों ने जाति का रिश्ता रोजगार से जोड़ा है परंतु बंगाल के औपनिवेशिक अधिकारी एच.एच.रिजले इसका एक नस्लवादी खाका खींचा और यह बताया कि जाति व्यवस्था का संबंध प्रजाति से है और इसका संबंध भारत के मूल निवासियों पर आर्यों के विजय से है।

औपनिवेशिक शासन के आरंभिक दिनों में औपनिवेशिक प्रशासक कबीलों को भी जाति का एक हिस्सा मानते थे परंतु बाद में उन्हें यह अहसास हुआ कि कबीलों का सामाजिक ढांचा जाति समाज से बिलकुल अलग था। कबीलों के बारे में शैक्षिक अध्ययन से भारत में मानवशास्त्र का एक नया अनुशासन शुरु हुआ। भारतीय कबीलों पर काम करनेवाले भारतीय और विदेशी विद्वानों ने कई मानवशास्त्रीय अध्ययन किया।

कई इतिहासकारों ने गैर-ब्राह्मण और दलित आंदोलनों पर काम किया और महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं जिनमें रोजालिन्ड ओ हैनलन, यूजीन एफ. इरशिक, गेल ऑमवेट और इलिनर ज़ेलियट उल्लेखनीय हैं।

आजादी मिलने के बाद और नारीवादी आंदोलनों की वजह से लैंगिक भेदभाव के सवाल महत्वपूर्ण होने लगे। हालांकि औपनिवेशिक काल में ही पंडिता रमाबाई ने महिलाओं की समस्याओं पर लिखकर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। अब लैंगिक भेदभाव और स्त्री-पुरुष संबंधों के विभिन्न पक्षों पर पर्याप्त मात्रा में पुस्तकें उपलब्ध हैं।

28.8 अभ्यास

1) जाति को आप कैसे परिभाषित करेंगे ? जाति पर विभिन्न विद्वानों के लेखन की चर्चा कीजिए।

2) कबीलों के बारे में औपनिवेशिक समझ का हवाला दीजिए।

3) लैंगिक भेदभाव से जुड़ी ऐतिहासिक कृतियों की चर्चा कीजिए।

इकाई 29 धर्म और संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

29.1 प्रस्तावना

औपनिवेशिक भारत में राष्ट्रवादी आंदोलनों के फलस्वरूप इतिहास की नई अवधारणा सामने आई। उस समय तक इतिहास भारत में ब्रिटिश राज्य के इतिहास का पर्याय था। पूर्व-औपनिवेशिक काल का इतिहास राजवंशों और उनके युद्धों और संधियों का राजनैतिक आख्यान भर माना जाता था। मोहनदास करमचंद गांधी के अनुसार यह हिंसा का इतिहास था। 'आत्मशक्ति' या अहिंसा का कोई इतिहास नहीं था। *हिन्द स्वराज* (1909) में उन्होंने इस पर खुल कर लिखा है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस मुद्दे को कुछ अलग ढंग से देखा था। उनके अनुसार भारत का सच्चा इतिहास राजवंशों की सूची और उनके द्वारा किए गए युद्ध और खूनखराबे में निहित नहीं है बल्कि इतिहास के भीतर छुपा है। मतभेदों को दूर करना, वैविध्यपूर्ण तत्वों में सामंजस्य पैदा करना और धार्मिक मान्यताओं के बीच सह-अस्तित्व कायम करने की खोज में ही इतिहास निहित होता है। उनके अनुसार भारत की अनूठी संस्कृति का इतिहास वैविध्यपूर्ण सामंजस्य का विकासक्रम है। इस विश्लेषण के अनुसार धार्मिक इतिहास भारतीय संस्कृति के आंतरिक इतिहास का मुख्य केन्द्र है।

ब्रिटिश प्राच्यवाद ने भी धार्मिक इतिहास को भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का सर्वाधिक प्रमुख अंग माना है। यह केवल उपनिवेशवादी दृष्टिकोण ही नहीं था क्योंकि देश की सांस्कृतिक विरासत में धर्म को खासा महत्व मिला हुआ था। अकबर के शासनकाल पर लिखते समय बदायुनी ने *मुन्तखा-उत-तवारिख* में धार्मिक मसलों और सूफी सिद्धांतों को काफी जगह दी है।

परंतु एक दृष्टिकोण यह भी है कि भारतीय संस्कृति में केवल धार्मिक संस्कृति ही शामिल नहीं है। ब्रिटिश प्राच्यवाद ने धर्म निरपेक्ष कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और इसके पहले बदायुनी ने भारत में फारसी कविता का इतिहास लिखा है जिसमें सभी कविताएं धार्मिक नहीं थीं। परंतु भारतीय इतिहास-लेखन में यह बात जल्द ही समझ ली गई कि भारत के धार्मिक और धर्म निरपेक्ष इतिहास के बीच कोई पत्थर की लकीर नहीं खींची जा सकती। यहां तक कि आधुनिक काल में भी भारत के नवजागरण में भी धार्मिक सुधार/पुनरूत्थान का महत्वपूर्ण स्थान था।

29.2 पूर्व-उपनिवेशवादी और उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन

पी.जे. मार्शल ने कहा था कि हिन्दूत्व की खोज अंग्रेजों ने की थी परंतु अंग्रेजों के आने के बहुत पहले मुसलमान हिन्दुओं के धर्म और धर्म निरपेक्ष प्रवृत्तियों के बारे में काफी कुछ लिख चुके थे। लगभग 1030 ई. में ही गजनी के प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान अल बिरूनी ने हिन्दू मान्यताओं और विश्वासों के बारे में अपनी पुस्तक *किताब-उल-हिन्द* में विस्तार से लिखा था। तिब्बती लामा तारांथा ने भारत में बौद्ध मत का इतिहास ऋज्ञागरशोसज्ञयुन (भारत में बौद्धधर्म का इतिहास) की रचना 1608 के आसपास की। उस समय तक बौद्धधर्म पर हिन्दू धर्म पूरी तरह हावी हो चुका था। इसी शताब्दी में मुगल शहजादा दारा शिकोह ने दिखाने का प्रयास किया कि एकेश्वरवादी हिन्दू धर्म और इस्लाम में काफी चीजें मिलती जुलती हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक *मज़मा-उल-बहरेन* (दो समुद्रों का मिलन) में *उपनिषदों* और सूफी कृति *गुलशन राज़* का तुलनात्मक अध्ययन किया था। दार्शनिक अंदाज में लिखे होने के बावजूद सत्रहवीं शताब्दी के एक प्रमुख ग्रंथ मुशिन फनी का *दबिस्तान अल मजाहिब* में ऐतिहासिक और तुलनात्मक प्रविधि का स्पष्ट प्रयोग देखने को मिलता है। इस कृति का अंग्रेजी में अनुवाद *दबिस्तान आर स्कूल ऑफ मैनर्स* के नाम से हुआ। डेविड शी और एन्टोनी ट्रावयर की कृति *द रेलिजियस बिलिफ्स, ऑबजर्वेशन्स, फिलॉसोफिकल ओपिनियन्स ऐंड सोशल कस्टम्स ऑफ द ईस्ट* (वाशिंगटन, 1901) में भारत के प्रमुख सम्प्रदाय और मतों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

ब्रिटिश प्राच्यवादियों द्वारा हिन्दू धर्म और इस्लाम की 'महान परम्पराओं' पर काम किया गया और उसके आधार पर 'हिन्दू कानून' और 'एंग्लो मुहम्मदन कानून' बना। परंतु एक प्रसिद्ध प्राच्यवादी एच.एच.विलसन ने अपने शोध का दायरा सनातनी धार्मिक परम्पराओं से आगे बढ़ाया। उनका लेख 'स्केच ऑफ द रेलिजियस सेक्ट्स ऑफ द हिन्दूज' जो *एशियाटिक रिसर्चेज* (खंड 16, 1828, खंड 17, 1832) में प्रकाशित हुआ जिसमें लुप्त प्राय कई भक्ति सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया गया। विलसन के बाद ब्रह्म समाज सुधारक अक्षय कुमार दत्त ने अपनी बंगला पुस्तक *भारतवर्षिय उपासक सम्प्रदाय* (2 भागों,1870 और 1883) में कई असनातनी लोकप्रिय सम्प्रदायों का हवाला दिया। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ऑक्सफोर्ड में दिए गए अपने हिब्बर्ट व्याख्यानों में बाउल जैसे लोकप्रिय पंथों को उजागर किया जो *रेलिजन ऑफ मैन* (लंदन, 1931) नामक पुस्तक में प्रकाशित हुई। उन्होंने शांति निकेतन के एक सहकर्मी के ऐतिहासिक कार्य का उल्लेख किया है जिसे उन्होंने इस विषय पर अनुसंधान करने के लिए कहा था। शांतिनिकेतन के शिक्षक क्षितिमोहन सेन ने भारतीय *मध्य युगे साधनार धारा* (1930) पुस्तक लिखी जिसका अंग्रेजी में अनुवाद *मेडिवल मिस्टिसिज्म इन इंडिया* (लंदन, 1935) में प्रकाशित हुआ। इसके बाद शशि भूषण दासगुप्ता ने आरंभिक औपनिवेशिक बंगाल के असनातनी सम्प्रदायों की चर्चा अपनी कृति *अबक्योर रेलिजियस कल्ट्स* (कलकत्ता, 1946) में की। मुहम्मद इनामुल हक ने 1930 के दशक में लिखी अपनी शोधग्रंथ में बंगाल में सूफी पंथ के विकास की विवेचना की जो बाद में आजाद बंगला देश में *ए हिस्ट्री ऑफ सूफिज्म इन बंगाल* (ढाका, 1975) के नाम से प्रकाशित हुई। जॉर्ज वेस्टन ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक *गोरखनाथ ऐंड द कनफटा योगीज* (कलकत्ता, 1838) में एक महत्वपूर्ण पंथ का इतिहास लिखा। योगी एक गैर-रूढ़िवादी पंथ था और वह बंगाल से लेकर पंजाब तक पाया जाता था। विलसन, दत्त, टैगोर और अन्य विद्वानों की कृतियों से यह स्पष्ट है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही स्तरों पर असनातनी सम्प्रदाय जनता के बीच मौजूद थे जिसमें पुरातनता के साथ-साथ बदलाव और सामंजस्य भी देखने को मिलता है। दूसरे शब्दों में विभिन्न धर्मों के बीच हमेशा टकराव ही नहीं होता था और यह इस प्रायद्वीप की धार्मिक परम्परा नहीं थी।

औपनिवेशिक काल में भारतीय धर्म के अनछुए पहलुओं पर अनुसंधान किया गया। कई मामलों में धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन परम्परा को बदल रहे थे। यह खोज का नया क्षेत्र

था और इसमें पहला काम जे.एन.फारकुहार ने किया। वे एक महान सहृदय ईसाई मिशनरी थे जिन्होंने *मॉडर्न रेलिजियस मुवमेंट्स इन इंडिया* नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक 1919 में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक आज भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें कई सूचनाएं मूल स्रोत से प्राप्त की गई हैं। 1947 के बाद इस विषय पर कई अनुसंधान हुए परंतु फारकुहार का विवरण और वर्णन में ताजगी महसूस की जाती है।

29.3 धर्म संबंधी उत्तर-उपनिवेशवादी अनुसंधान

विभाजन के बाद इस उपमहाद्वीप में धर्म के सनातनी और असनातनी पक्षों पर अनुसंधान हुए और दक्षिण एशियाई संदर्भ में खास तौर पर इस्लाम पर नए ढंग से विचार किया गया। भारत में इस्लाम का विभिन्न दृष्टियों से व्यापक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया। एस. एम. इकराम की *हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम सिविलाइजेशन इन इंडिया ऐंड पाकिस्तान* (लाहौर, 1961) और मुहम्मद मुजीब की *द इंडियन मुस्लिम्स* (लंदन,1967) में जहां क्रमशः पाकिस्तानी और भारतीय नजरिए को पेश किया गया वहीं एन्न-मैरी शिमेल की *इस्लाम इन द इंडियन सबकॉन्टीनेन्ट* (लंदन,1980) में इस विषय पर बाहरी विदेशी विद्वान का नजरिया सामने आया। सिख समुदाय से सहानुभूति रखनेवाले न्यूजीलैंड के एक इतिहासकार डब्ल्यू.एच.मैकलॉड ने *द एडुकेशन ऑफ द सिक्ख कम्यूनिटी* (दिल्ली, 1975) लिखा जिसे व्यापक तौर पर स्वीकारा गया और इसे पूर्वाग्रह रहित रचना के रूप में देखा गया। स्टीफेन फ्रेडरिक डेल ने *द मैपिलाज ऑफ मालाबार 1498 - 1922: इस्लामिक सोसाइटी ऑन द साउथ एशियन फ्रंटियर (ऑक्सफोर्ड, 1980)* और सुजन बेली ने *संत, गौडेसेस ऐंड किंग्स: मुस्लिम्स ऐंड किंग्स: मुस्लिम्स ऐंड क्रिश्चिन्सं इन साउथ इंडियन सोसाइटी 1700-1900* (कैम्ब्रिज, 1989) में दक्षिण प्रायद्वीप के नए समुदायों का अध्ययन किया। इन कृतियों में इस्लाम और ईसाई धर्म के अलग-अलग क्षेत्रीय स्वरूपों को दर्शाया गया। रिचर्ड एम.इटन ने द *सूफीज ऑफ बीजापुर: सोशल रोल्स ऑफ सूफीज इन मेडिवल इंडिया* (प्रिंसटान, 1983) और असिम राय ने *इस्लामिक सिन्क्रेटिस्टिक ट्रेडिशन इन बंगाल* (प्रिंसटन, 1983) में इस्लाम के विकास में लोकप्रिय फकीरों के योगदान की चर्चा की।

मर्सी इलियड ने अपने श्रेष्ठ ग्रंथ *ले योगा: इमॉर्टिलिटी ए लिबरिटी* (पेरिस, 1954) में फ्रांसीसी में योग पर एक पुस्तक लिखी जिसमें हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक और लोकप्रिय स्वरूपों पर अनुसंधान किया गया। एडवर्ड सी. डिमॉक ने *द प्लेस ऑफ हिडेन मून: इरोटिक मिस्टिज्म इन द सहजिया वैष्णव कल्ट ऑफ बंगाल* (शिकागो, 1966); वेन्डी डॉनिगर ओ फ्लाहर्टी ने *एसेटिज्म ऐंड इरोटिसिज्म इन द माइथोलॉजी ऑफ शिव* (ऑक्सफोर्ड, 1973); सुयंक्ता गुप्ता, डक्र जान होन्स और तेयुन गौड्रियान ने *हिन्दू तांत्रिज्म* (लिडेन, 1979); और शार्लोट वाडविल ने *ए वीवर नेम्ड कबीर: सेलेक्टेड वर्सेज विथ ए डिटेल्ड बायोग्राफीकल ऐंड हिस्टोरिकल इन्ट्रोडक्शन* (दिल्ली, 1993) में सनातन ब्राह्मण ढांचे के बाहर हिन्दू धर्म के विभिन्न स्वरूपों की खोज की।

आजादी के बाद औपनिवेशिक भारत में हुए विभिन्न धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन को अनुसंधान का आधार बनाया गया। इस्लामी पुनर्जागरण आंदोलन की शुरुआत अठारहवीं शताब्दी से मानी गई और इसका अध्ययन एस.ए.ए.रिज़वी ने *शाह वली-अल्लाह ऐंड हिज टाइम्स* (कैनबेरा, 1980) में की। डेविड कॉफ ने *द ब्रह्मो समाज ऐंड द शेपिंग ऑफ द मॉडर्न इंडियन माइन्ड* (प्रिंसटन, 1979) में उन्नीसवीं शताब्दी के एक सर्वप्रमुख सुधार आंदोलन बंगाल के ब्रह्मो आंदोलन का विवेचन किया। क्रिश्चियन डब्ल्यू. ट्राल ने *सय्यद अहमद खान: ए रीइन्टरप्रिटेशन ऑफ मुस्लिम थियोलॉजी* (नई दिल्ली,1978) में उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान इस्लाम के सुधार आंदोलनों की विवेचना की। चार्ल्स एच. हेमसाथ ने *इंडियन नेशनलिज्म ऐंड हिन्दू सोशल रिफॉर्म* (प्रिंसटन, 1966) और केन्नथ डब्ल्यू. जोन्स ने *सोशियोरेलिजियस रिफॉर्म मुवमेंट इन ब्रिटिश इंडिया: द न्यू कैम्ब्रिज हिस्ट्री*

ऑफ इंडिया 3 (कैम्ब्रिज, 1994) में विभिन्न धार्मिक सुधारों पर विचार किया। पुनर्जागरण और सुधार आंदोलनों ने धार्मिक अस्मिता की नई राजनीति की शुरुआत की। इश्तियाक हुसैन कुरैशी ने अपनी पुस्तक *द मुस्लिम कम्यूनिटी ऑफ द इन्डो-पाकिस्तान सबकॉन्टिनेन्ट 610-1947: ए ब्रिफ एनालिसिस* (द हेग, 1962) में इस बात पर बल दिया कि उपमहाद्वीप में मुसलमान हमेशा से एक पृथक राष्ट्र के रूप में मौजूद थे। बीसवीं शताब्दी के इतिहास-लेखन में धर्म राजनीति से जुड़ गया।

29.4 भारतीय संस्कृति का अध्ययन

औपनिवेशिक काल के दौरान भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण अध्ययन किए गए जिसकी शुरुआत प्राच्यवादियों ने की। सर विलियम जोन्स ने भारतीय-यूरोपीय भाषा समूह की खोज की और इस प्रकार भारतीय संस्कृति की अवधारणा को रूपांतरित कर दिया। भारतीय कला में प्राच्यवादियों की खास रुचि थी जो जेम्स फर्गुसन की *हिस्ट्री ऑफ इंडियन ऐंड वेस्टर्न आर्क्रिटेक्चर* (1876) जैसी कृतियों में दृष्टिगोचर होती है। प्राच्यवादियों ने इस क्षेत्र में आरंभिक भारतीय इतिहास-लेखन के प्रयत्नों की अप्रासंगिक आलोचना की जो फर्गुसन की रचना में भी देखने को मिलता है जिसमें राजेन्द्रलाल मित्रा के मौलिक अध्ययन *द एन्टीकिटिज ऑफ उड़ीसा* (1868-69) की आलोचना की गई है जिसमें उन्होंने उड़ीसा के मन्दिरों का अध्ययन किया था। पंरतु इस प्रकार की आलोचनाओं से भारतीय बुद्धिजीवी हतोत्साहित नहीं हुए और गुलाम यज़दानी ने *अजन्ता* (1930) शीर्षक से अजन्ता की चित्रकला का व्यापक और अद्‌भुत वर्णन किया। इस समय तक भारतीय इतिहासकार राजाओं की गाथा सुनाने के स्थान पर भारत की जनसंस्कृति की विशेषताओं की खोज करने लगे थे। मुहम्मद हबीब ने 1927 में *हज़रत अमीर खुसरो ऑफ दिल्ली* और के.एम. अशरफ ने *लाइफ ऐंड कंडिशन ऑफ द पिपुल ऑफ हिन्दुस्तान* (1935) में दिल्ली सल्तनत की लोकसंस्कृति का विस्तृत ब्योरा प्रस्तुत किया है।

इस समय तक अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप मध्यवर्ग की मानसिकता में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ था। इस तथ्य की छानबीन एक अमेरिकी विद्वान बी.टी.मैककुली ने अपनी पुस्तक *इंगलिश एडुकेशन ऐंड द ओरिजिन्स ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (1940) में की है। भारतीय विद्वानों ने भी स्वयं नई देशी भाषाओं के साहित्य पर पश्चिम के प्रभाव का अध्ययन किया है। इस दृष्टि से सुशील कुमार डे की *बंगाली लिटरेचर इन द नाइनटीन्थ सेंचुरी* (1919) और सय्यद अब्दुल लतीफ की *द इन्फ्लूएंस ऑफ इंगलिश लिटरेचर ऑन ऊर्दू लिटरेचर* (1924) महत्वपूर्ण हैं। सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता की *हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसोफी,* जो 5 खंडों में लिखी गई थी, उस समय की एक महत्वपूर्ण और विद्वतापूर्ण उपलब्धि है।

आजादी और विभाजन के कारण उपमहाद्वीप के बारे में नए ग्रंथ सामने आए। ए. एल. बाशम की *द वन्डर दैट वाज इंडिया: ए सर्वे ऑफ द हिस्ट्री ऐंड कल्चर ऑफ द इंडियन सबकॉन्टिनेन्ट बिफोर द कमिंग ऑफ द मुस्लिम्स* (1954) और एस.एम. इकराम की *हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम सिविलाइजेशन इन इंडिया ऐंड पाकिस्तान* (लाहौर, 1961) में इन घटनाओं का सर्वेक्षण किया गया है। हाल के वर्षों में मीनाक्षी मुखर्जी ने *रियलिज्म ऐंड रियालिटी: द नॉवेल ऐंड सोसाइटी इन इंडिया* (नई दिल्ली, 1985) ओर पार्थ मित्र ने *आर्ट ऐंड नेशनलिज्म इन कोलोनियल इंडिया* (कैम्ब्रिज, 1994) जैसे कृतियों में नए ढंग से पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव का अध्ययन किया है। इन कृतियों में आधुनिक भारतीय संस्कृति को नई दृष्टि से देखा गया है और भारतीय जागरण की प्रक्रिया को समझने का व्यापक आधार प्रदान किया गया है। इन परिघटनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है और समाज तथा नई चेतना के उदय के साथ संस्कृति को जोड़कर देखा गया है।

29.5 सांस्कृतिक अध्ययन और धार्मिक अस्मिताएं

उत्तर आधुनिकता, औपनिवेशिक विमर्श विश्लेषण और सांस्कृतिक अध्ययनों में भारतीय इतिहास में धार्मिक सांस्कृतिक अस्मिताओं के प्रश्न पर गहराई से विचार किया गया है। उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतों में इस प्रकार की अस्मिताओं पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है और यह कहा गया है कि वे उपनिवेशवादी, राष्ट्रवादी और अन्य शक्तियों द्वारा 'रचित' हैं। उत्तर-उपनिवेशवादी विसंरचनावादियों ने धार्मिक अस्मिताओं खासतौर पर हिन्दू धर्म की अस्मिता की वैधता पर संदेह व्यक्त किया है। उत्तर संरचनावादी साहित्यिक आलोचना में जाक दरीदा और एडवर्ड सईद जैसे विद्वानों के विचारों का प्रभाव पड़ा और ऐसे विसंरचनावाद के निर्धारण में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही।

विसंरचनावादियों का यह मानना था कि ब्रिटिश प्राच्यवादियों ने विविध धार्मिक प्रथाओं के बीच से हिन्दू धर्म की अवधारणा विकसित की और यहां तक कि ब्रिटिशकालीन भारत में इस्लाम के इतने विविध रूप उपस्थित थे कि पूरे उपमहाद्वीप में मुस्लिम समुदाय का एक स्वरूप निर्मित करना संदेह के घेरे में आता है। सर मोनियरविलियम्स के *हिन्दुइज्म* जैसी पुस्तकों के (1877) प्राच्यवाद और इसके द्वारा निर्मित मनगढ़ंत अस्मिताओं की आलोचना की गई है। मोनियर विलियम्स के अनुसार, विभिन्न सम्प्रदायों के बावजूद हिन्दू धर्म एक धर्म था क्योंकि इसकी एक देववाणी थी और एक पवित्र साहित्य था। हिन्दू धर्म के सभी अनुयाइयों ने इसे स्वीकार किया है और वे उनकी इस मान्यता का सम्मान करते हैं। के.एम. सेन जैसे भारतीय राष्ट्रवादियों ने भी जिन्होंने *हिन्दूइज्म* (पेंग्विन, 1961) नामक पुस्तक लिखी के बारे में यही मान्यता है कि एक धर्म की अवधारणा मानने के पीछे उनका मत भी प्राच्यवादियों से मिलता जुलता है।

ठेठ उत्तर-आधुनिकतावादी शैली में ब्रायन स्मिथ ने अपनी कृति *रिफलेक्शन ऑन रिजेम्बलेन्स, रिचुअल ऐंड रेलिजन* (न्यूयाक्र, 1989) में कहा: ' "हिन्दू धर्म" का आविष्कार पहले किसने किया, यह एक विवाद का विषय है। लेकिन इस बात को लगभग सभी मानते हैं कि यह आविष्कार हिन्दुओं ने नहीं किया।' उनके अनुसार अंग्रेजों ने विविध स्वरूप वाले जन समुदाय पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में इसका ईजाद किया। इसके बाद वे 'एक धर्म की चर्चा करने में कामयाब रहे, जिसका इससे पहले अस्तित्व नहीं था या जहां कई धर्म थे।' हरजोत एस.ओबेराय का *द कन्सट्रक्शन ऑफ रेलिजियस बाउन्ड्रिजः कल्चर, आइडेन्टीटी ऐंड डाइवरसिटी इन द सिक्ख ट्रेडीशन* (शिकागो,1994); और वसुधा डालमिया और हेनरिक वोन स्टीटेनक्रान (संपा.), *रिप्रेजेन्टिंग हिन्दुइज्मः द कन्सट्रक्शन ऑफ रेलिजियस ट्रेडीशन ऐंड नेशनल आइडेन्टीटी* (नई दिल्ली, 1995) में भारत में मनगढ़ंत धार्मिक सीमाएं खींचने की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया। बारबरा मेटकाफ के अनुसार 'भारतीय मुसलमान' की एक और समान प्रहचान का कोई आधार न था और वस्तुतः यह उपनिवेशवादी इतिहास की देन थी। (बारबरा डेली मेटकाफ, *परफेक्टिंग विमेनः मौलाना अशरफ अली जान्हवीज बहिश्ती ज़ेवर* दिल्ली, 1992)। अपने लेख 'इमैजिनिंग कम्यूनिटीः पोलेमिकल डिबेट्स इन कोलोनियल इंडिया' में उन्होंने कहा है कि 'भारत', 'हिन्दू' और 'मुसलमान' न केवल कल्पित समुदाय हैं बल्कि 'मनगढंत समुदाय' भी हैं। (केनथ डब्ल्यू. जोन्स, संपा., रेलिजियस कन्ट्रोवर्सी इन ब्रिटिश इंडियाः डायलॉग्स इन साउथ एशियन लैंग्वेजेज, अलबेनी, 1992)।

सभी इतिहासकार इन तर्कों से सहमत नहीं हैं और उनका मानना है कि पूर्व -औपनिवेशिक काल से ही इस प्रकार के समुदाय मौजूद थे। वे इसी अवधारणात्मक नजरिए से सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास लिख रहे हैं। सी.ए.बेली 'द प्री-हिस्ट्री ऑफ "कम्युनलिज्म" ? रेलिजियस कन्फ्लिक्ट इन इंडिया, 1700-1860' (*मॉडर्न एशियन स्टडीज,* खंड 19, 1985); सिन्थिया टैलबॉट, 'इन्सक्राइबिंग द अदर, इन्सक्राइबिंग द सेल्फः हिन्दू-मुस्लिम आइडेन्टीटीज

इन प्री-कोलोनियल इंडिया' (*कमपरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री,* खंड 37,1995); रफिउद्दीन अहमद, *द बंगाल मुस्लिम्स 1871-1906: ए क्वेस्ट फॉर आइडेन्टीटी* (ऑक्सफोर्ड, 1981); स्टीफेन डेल, *द मपिलाज ऑफ मलाबार 1498-1922: इस्लामिक सोसाइटी ऑन द साउथ एशियन फ्रंटियर* (ऑक्सफोर्ड, 1986); रिचर्ड एम. इटन, *द राइज ऑफ इस्लाम ऐंड द बंगाल फ्रंटियर 1204-1706* (दिल्ली, 1994); डेविड लौरेनजॉन (संपा.) *भक्ति रेलिजन इन नॉर्थ इंडिया: कम्यूनिटी आइडेन्टीटी ऐंड पोलिटिकल ऐक्शन* (अलबेनी, एनवाई, 1995) में यही दृष्टिकोण देखने को मिलता है। विद्वानों की इन असहमतियों से औपनिवेशिक और पूर्व-औपनिवेशिक भारत में अस्मिताओं की प्रकृति और भारतीय इतिहास में देशभक्ति और साम्प्रदायिकता की गहरी जड़ों से जुड़े सवाल से जुड़ा विवाद गहरा गया। ज्ञानेन्द्र पांडेय, *द कन्स्ट्रक्शन ऑफ कम्यूनलिज्म इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया* (दिल्ली, 1990); सी.ए.बेली, *द ओरिजिन्स ऑफ नेशनलिटी इन साउथ एशिया: पैट्रीओटिज्म ऐंड एथिकल गवर्नमेंट इन द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया* (दिल्ली, 1998); ब्रजदुलाल चटोपाध्याय, *रिप्रेजेन्टिंग द अदर ? संस्कृत सोर्सेज ऐंड द मुस्लिम्स* (नई दिल्ली, 1998); रजत कांत राय, *द फेल्ट कम्यूनिटी: कमनलिटी ऐंड मेन्टलिटी बिफोर द इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (नई दिल्ली, 1003) में इस विषय पर बहस की गई है। पांडेय और चटोपाध्याय ने जहां इस बात पर बल दिया है कि भारत समाज में अस्मिताएं गढ़ी गई हैं वहीं बेली और राय धार्मिकता और देशभक्ति को पुरातन काल से चली आ रही परम्परा मानते हैं।

धार्मिक सांस्कृतिक इतिहास पर हुए गंभीर अनुसंधान में इस बात पर बल दिया गया कि भारतीय समाज में अस्मिताओं और निष्ठाओं को परस्पर विरोधी और अखंड नहीं मानना चाहिए। रिचर्ड इटन ने मिर्जापुर के सूफी और असिम रॉय ने मध्यकालीन बंगाल में समन्वयवादी इस्लामी परम्परा पर काम किया है। इन दोनों ही कृतियों में उपमहाद्वीप में इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच होनेवाले आदान-प्रदान और समन्वय की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस प्रकार इस्लाम ने यहां अपना स्वरूप ग्रहण किया है। कैरिन शोमर और डब्ल्यू.एच.मैकलोड (संपा.) ने *द संत्सः स्टडीज इन ए डिवोशनल ट्रेडीशन ऑफ इंडिया* (दिल्ली, 1987) और फ्रेडहेल्म हार्डी ने *विरह-भक्ति: द अर्ली हिस्ट्री ऑफ कृष्णा डिवोशन इन साउथ इंडिया* (दिल्ली, 1983) में भक्ति आंदोलन का अध्ययन किया गया है जिसका समन्वयवादी परम्परा के विकास में अभूतपूर्व योगदान है। आध्यात्मिक सूफी और भक्ति आंदोलनों के समानान्तर लोकायत परम्परा भी चलती रही जिसका आधार भौतिकवाद और जनरुचि थी। यह परम्परा भी धर्म को परस्पर अलग-अलग विरोधी खेमों और अस्मिताओं के बांटने के विरुद्ध काम कर रही थी। डी.पी. चटोपाध्याय ने *लोकायत: ए स्टडी इन एन्सिएंट इंडियन मैटरियलिज्म* (नई दिल्ली, 1959) में इस महत्वपूर्ण परम्परा पर प्रकाश डाला है। बंगाल के बाउल ने इस भौतिकवादी परम्परा को अपनाया और हिन्दू मुस्लिम विभाजन को मिथ्या आध्यात्मवाद कहकर नकार दिया। जीन ओपेनशा ने *सीकिंग बाउल्स ऑफ बंगाल* (कैम्ब्रिज, 2002) में इसी पक्ष का विवेचन किया है। सूफी और भक्ति आंदोलनों की अपेक्षा इस प्रकार के आंदोलन ज्यादा परिवर्तनगामी थे और उन्होंने अधिक शिद्दत के साथ लैंगिक भेदभाव, धर्म, जाति और वर्ग के बंधनों को तोड़ने का 'प्रयास' किया। मिरांडा शा ने अपने *पैशनेट इनलाइटेनमेंट: विमेन इन तांत्रिक बुद्धिज्म* (प्रिन्सेटॉन, 1994) में उनके इसी परिवर्तनगामी चरित्र को दर्शाया है। उनके अनुसार भारतीय धार्मिक परम्परा के निरिश्वरवादी स्वर ने भारतीय समाज में मौजूद भेदभाव को उलटने का प्रयास किया।

इन सबके बावजूद आधुनिक भारत में धार्मिक ध्रुवीकरण की विशिष्ट प्रवृत्ति देखने को मिलती हैं पीटर वैन डर वीर ने *रेलिजियस नेशनलिज्म: हिन्दूज ऐंड मुस्लिम्स इन इंडिया* (बक्र्ले, 1994) में इस विषय पर विचार किया है। धार्मिक विवादों के फलस्वरूप उभरते राष्ट्र/राष्ट्रों का सार्वजनिक जीवन काफी हद तक प्रभावित हुआ।

29.6 संस्कृति का इतिहास और मानसिकता

फ्रांस में *अनाल* स्कूल के इतिहासकारों द्वारा मानसिकता के अध्ययन से सांस्कृतिक इतिहास और भी समृद्ध हुआ। इसने परम्परागत बौद्धिक इतिहास से आगे बढ़कर लोक प्रवृत्ति और अन्तः चेतना में झांकने का प्रयास किया। इसी प्रकार मनोविश्लेषणात्मकता के क्षेत्र में भी अनुसंधान हुआ जिसमें मन की स्थिति को आंकने का प्रयास किया गया। इस मनोविश्लेषणा में सिगमन्ड फ्रायड के तकनीक की मदद ली गई। इस प्रकार के इतिहास का सरोकार किसी व्यक्ति या समूह के सचेतन भावनाओं के बजाए दबी हुई भावनाओं को टटोलने से होता है। सांस्कृतिक इतिहास में भावनाओं के साथ-साथ मनोभावों का भी अध्ययन किया जाता है जिससे भावनात्मक इतिहास का क्षेत्र काफी व्यापक हो जाता है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता में मानसिकता के ऐतिहासिक अध्ययनों में इतिहास की इन विभिन्न कड़ियों को पिरोने का प्रयास किया गया। इसमें लोकप्रवृत्तियों और चिंतन प्रतीक, अवचेतन मानसिक प्रक्रियाएं और संस्कृति के दबाव से बनी मनोभावों और भावनाओं का इतिहास शामिल होता है।

इसके साथ ही साथ बौद्धिक इतिहास भी कदम बढ़ाता चला गया। विलहेल्म हैल्बफैस ने *इंडिया ऐंड यूरोप: ऐन एस्से इन अन्डरस्टैंडिंग* (अलबेनी, न्यूयाक्र, 1988) में पूर्व-औपनिवेशिक काल से यूरोपीय और भारतीय चिंतन के आदानप्रदान पर बहुमूल्य अध्ययन किया है। इस पर भी काफी लिखा गया है कि पश्चिम ने किस प्रकार औपनिवेशिक काल में भारत के चिंतन को प्रभावित किया। पार्थ चटर्जी ने *नेशनलिस्ट थॉट ऐंड द कोलोनियल वर्ल्ड: ए डिराइवेटिव डिस्कोर्स ?* (दिल्ली, 1986) में इसी तथ्य की छानबीन की है। एक राजनीतिक विज्ञानी द्वारा किया गया यह एक निम्नवर्गीय प्रसंग से संबंधित कृति है। तपन रायचौधरी ने भी *यूरोप रिकन्सिडरड: परसेप्शन्स ऑफ द वेस्ट इन नाइनटीन्थ सेंचुरी बंगाल* (नई दिल्ली, 1988) इस विषय पर एक अन्य कार्य है। इसमें एक प्रसिद्ध उदारवादी इतिहासकार ने भूदेव मुखोपाध्याय, बंकिमचन्द्र चटोपाध्याय और स्वामी विवेकानन्द के चिंतन का अध्ययन किया है।

1970 के दशक के आसपास मानसिकता का अध्ययन शुद्ध बौद्धिक इतिहास की सीमा से बाहर निकल गया। इस प्रकार की कृतियों में शामिल हैं डेविड कॉफ की *द ब्रह्मो समाज ऐंड द शेपिंग ऑफ द मॉडर्न इंडियन माइन्ड* (प्रिन्सटन, 1979); केनेथ बालहैचेट की *रेस, सेक्स ऐंड क्लास अन्डर द राज* (न्यूयाक्र 1980); जुडिथ वाल्श की *ग्रोविंग अप इन ब्रिटिश इंडिया* (न्यूयार्क, 1983); कारोल ब्रेकेनरिज और पीटर वैन डर वीर (संपा.) *ओरिएन्टलीज्म ऐंड द पोस्टकोलोनियल प्रेडिकमेंट: पर्सपेक्टिव्स ऑन साउथ एशिया* (फिलेडेलफिया, 1983); मृणालीनी सिन्हा *कोलोनियल मैस्क्यूलिनिटी: द 'मेनली इंगलिशमैन' ऐंड द 'इफेमिनेट बंगाली' इन द लेट नाइनटीन्थ सेंचुरी* (मेनचेस्टर, 1995); रजत कान्त राय (संपा.) *माइन्ड, बॉडी ऐंड सोसाइटी: लाइफ ऐंड मेंटालिटी इन कोलोनियल बंगाल* (कलकत्ता, 1996); सुमित सरकार *राइटिंग सोशल हिस्ट्री* (दिल्ली, 1997); और सुदीप्तो कविराज *द अनहैप्पी कांशसनेस: बंकिम चंद्र चटोपाध्याय ऐंड द फॉरमेशन ऑफ ए नेशनलिस्ट डिस्कोर्स इन इंडिया* (दिल्ली, 1998)। इन कृतियों के माध्यम से औपनिवेशिक युग के दौरान बन रही मानसिक बुनावट में मौजूद तनाव को रेखांकित किया गया है।

मनोविश्लेषणात्मक इतिहास फ्रायड के मनोविश्लेषण पर आधारित है और यह बहुत ही तकनीकी और विशेषीकृत कार्य है। भारत के संदर्भ में इस दिशा में पहला कदम प्रसिद्ध मनोविश्लेषक एरिक एरिक्सन ने *गांधीज ट्रूथ: ऑन द ओरिजिन ऑफ मिलिटैन्ट नॉनव-यलेंस* (न्यूयाक्र,1968) में उठाया था। भारत में एक मनोविश्लेषक और चिकित्सक सुधिर कक्कड़ को इस प्रकार के इतिहास-लेखन में महारत हासिल है और उन्होंने *इन्टिमेट रिलेशन्स: एक्सपलोरिंग इंडियन सेक्सुयालिटी* (शिकागो, 1989) जैसी कई पुस्तकें लिखीं। आशीष नन्दी ने भी मनोविश्लेषणात्मक इतिहास के क्षेत्र में काम किया है और भारतीय संस्कृति के संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता पर विमर्श किया है। उन्होंने *द इन्टिमेट एनेमी: लॉस ऐंड रिकवरी ऑफ*

सेल्फ अन्डर कोलोनियलिज्म (दिल्ली, 1983) में अवचेतन मन पर पड़नेवाले उपनिवेशवादी प्रभाव की छानबीन की है। मनोविश्लेषणात्मक इतिहास के अनुशासन की स्थापना एरिक्सन ने की थी। आरंभ में यह एक विशेषीकृत विषय था जिसका उपयोग अब सभी प्रकार के विद्वान करने लगे हैं। धर्म, काम और यौन जैसे विषयों में भी इसका उपयोग होने लगा है। उदाहरण के लिए जेफरी जे. कृपाल, *कालीज चाइल्डः द मिस्टिकल ऐंड द इरोटिक इन द लाइफ ऐंड टीचिंग्स ऑफ रामकृष्ण* (शिकागो, 1995); और नरसिंह पी.सील, *रामकृष्ण रिविजटेडः ए न्यू बायोग्राफी* (लैनहम, एमडी, यूएसए, 1998) में रामकृष्ण के मन और जीवन का विवादास्पद मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। धर्म और संस्कृति संबंधी अपने अध्ययनों में उन्हांने एक संत के मनोकामवासना का विश्लेषण किया है। फ्रायड के समय से ही भारत में मनोविश्लेषण सुस्थापित था और अब तो इसकी एक लम्बी परम्परा है। आस्ट्रीयाई लेखक क्रिस्टिएन हार्टनैक ने *साइकोनालिसिस इन कोलोनियल इंडिया* (नई दिल्ली, 2001) में संस्कृति सिद्धांत के कोण से भारत में मनोविश्लेषण के उद्भव और विकास का परीक्षण किया है।

मनोविश्लेषकों और मनोविश्लेषक इतिहासकारों का विरोध करनेवाला एक समूह अपने आपको 'सामाजिक संरचनावादी' (उत्तर आधुनिकतावादी शब्दावली में) कहा करता है जो उत्तर संरचनावादी मानवशास्त्र आलोचनात्मक सिद्धांत और सांस्कृतिक अध्ययनों के कोण से भावनाओं को आंकता है। उन्होंने फ्रायड को खारिज करते हुए यह स्थापना रखी कि भावनाएं संस्कृति सापेक्ष हुआ करती हैं। ओवेन एम.लीन्च (संपा.) *डिवाइन पैशनःद सोशल कन्सट्रक्शन ऑफ इमोशन इन इंडिया* (दिल्ली, 1990) में भारतीय समाज के संदर्भ में विचार किया गया है। लीन्च ने यह तर्क सामने रखा कि भारत में भावनाओं की अवधारणा और यहां का भावनात्मक जीवन पश्चिम से इस कदर भिन्न है कि जिसे पश्चिम के लोग कभी समझ ही नहीं सकते। कुछ इतिहासकारों ने इस दृष्टिकोण को खारिज करते हुए यह कहा है कि यह सही है कि भावनाओं से मन परिचालित होता है परंतु संस्कृति पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। वे मनोविश्लेषणात्मक इतिहासकारों की अपेक्षा इतिहास में भावनाओं को व्यापक आधार प्रदान कर उपयोग में लाते हैं और वे केवल मनोभावों को ही नहीं बल्कि सचेतन मनोभावों पर भी गौर करते हैं। तपन रायचौधरी का *पर्सेप्शन्स, इमोशन्स, सेन्सिबलिटीजः एस्सेज ऑन इंडियाज कोलोनियल ऐंड पोस्ट-कोलोनियल एक्सपीरियेन्सेज* (नई दिल्ली, 1999) और रजत कांत राय, *एक्सप्लोरिंग इमोशनल हिस्ट्रीः जेन्डर, मेन्टलिटी ऐंड लिटरेचर इन द इंडियन अवेकेनिंग* (नई दिल्ली, 2001) इसी प्रकार का भावनात्मक इतिहास की नई धारा है।

29.7 सारांश

मनोविश्लेषणात्मक इतिहास, सामाजिक संरचनावाद, मन का इतिहास, भावनात्मक इतिहास और इसी प्रकार के कई प्रतिद्वंदी स्कूलों ने भारत के धर्म, संस्कृति और मानसिकता की ऐतिहासिक खोजबीन करने का प्रयास किया। मन का इतिहास अब केवल पुराने बौद्धिक इतिहास तक ही सीमित नहीं रहा। बृहद् सामाजिक संदर्भ में संस्कृति, धर्म और मन के अध्ययन से भारतीय इतिहास समृद्ध हुआ। अब इतिहास-लेखन में केवल राज्य का इतिहास ही शामिल नहीं था बल्कि इसकी चौहदी और विस्तृत हुई। इसी सिलसिले में बौद्धिक इतिहास का भी रूपांतरण हुआ। अब यह केवल संभ्रांतों के विचारों का वाहक नहीं रहा। इतिहासकारों ने जनता की अस्मिताओं और जनचेतना के प्रतीकों को ग्रहण किया और पूरे समाज की भावनाओं को आधार बनाया।

29.8 अभ्यास

1) भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए मानसिकता के इतिहास के उपयोग की मौजूदा प्रवृत्ति की चर्चा कीजिए।

2) भारतीय धर्म और संस्कृति संबंधी ऐतिहासिक लेखन पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।

इकाई 30 पर्यावरण, विज्ञान और प्रौद्योगिकी

इकाई की रूपरेखा

30.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारत के इतिहास और इतिहास-लेखन में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पर्यावरण एक दूसरे से परस्पर संबंधित विषय हैं। जनसांख्यिकी के साथ-साथ विज्ञान और प्रौद्योगिकी में आनेवाले बदलावों के कारण पूरा परिदृश्य पूरी तरह बदल चुका था। चाहे बाबर हो या वारेन हेस्टिंग्स वह देश की मौजूदा स्थिति को बर्दाश्त नहीं कर सकेगा। इस रूपांतरण ने हाल में भारत के इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया है। ऐसा नहीं है कि भारतीय इतिहास में प्रौद्योगिकी, विज्ञान और पारिस्थितिकी जैसे आधारभूत कारकों का पहले के इतिहासकारों ने ध्यान न दिया हो। पंरतु 1990 के दशक के बाद ही भारत में इतिहासकारों ने इस विषय पर अलग से अनुसंधान करना शुरु किया। लेकिन जनता के कल्याण और देश के परिवेश पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पड़नेवाले प्रभावों के संदर्भ में उनमें मतैक्य नहीं है। उनकी असहमति जनमत के वैविध्य और सरकार और देश की राजनीति को दर्शाती है। विज्ञान, अर्थशास्त्र नियोजन और पर्यावरण के अलग-अलग गुट मौजूद हैं। एक ओर भविष्य में आनेवाली आपदाओं को लेकर चेतावनी दी जा रही है और दूसरी ओर इस बात को नकारा जा रहा है और कहा जा रहा है कि यह अफ़वाह के सिवा कुछ नहीं है। कहा जा रहा है कि भूमंडलीकृत औद्योगीकरण के ग्रीन हाउस प्रभाव के परिणामस्वरूप हमारी नदियों के स्रोत यानी ग्लेशियर तेजी से घट रहे हैं। इन सार्वजनिक बहसों से इतिहासकार भी विज्ञान और पर्यावरण के समस्याओं से अवगत हुए हैं। 1990 के दशक से इन विषयों पर स्वतंत्र ऐतिहासिक लेख लिखे जा रहे हैं। इसके पहले भी विज्ञान और प्रौद्योगिकी के संदर्भ में इतिहासकारों ने सवाल उठाए थे। क्या औपनिवेशिक शासन ने आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का दुरूपयोग किया ? अंग्रेजों के आने से पहले भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की स्थिति क्या थी ? हाल ही में इन प्रश्नों पर विचार किया गया है।

30.2 आरंभिक इतिहास-लेखन

अंग्रेजों ने भारत पर अपने शासन और आधिपत्य को नैतिक रूप से वैध ठहराने के लिए यह साबित करने का प्रयास किया कि उन्होंने इस उपनिवेश को आधुनिक विज्ञान और तक्र पद्धति से सोचने के लायक बनाया है। भारतीय सभ्यता के बारे में अंग्रेजों का यह मानना था कि यहां धर्म की प्रमुखता थी और विज्ञान पीछे छूट गया था। सात शताब्दी पहले भारत में आनेवाले मुसलमान आगंतुकों ने उस समय के भारत और यहां की सभ्यता का बिलकुल अलग वर्णन किया है। अलबरूनी ने 1030 में धर्म और विज्ञान की बराबर मौजूदगी का उल्लेख किया था। मुसलमान भी अपने साथ कागज और रहट जैसी नई तकनीकें साथ लाए। उस समय यूरोप ने चीन और इस्लामी दुनिया की कई तकनीकें अपनाई थीं लेकिन

सत्रहवीं शताब्दी में हुई वैज्ञानिक क्रांति और अठारहवीं शताब्दी में हुई औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप वे इस दौड़ में काफी आगे निकल गए। भारत में अंग्रेजों की हुकूमत स्थापित होने के बाद इसी आधार पर यूरोपीयों ने अपने वैज्ञानिक और सभ्यतागत श्रेष्ठता का दावा किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रिटिश भारत के कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में काम करनेवाले भारतीय वैज्ञानिकों ने भारत में आधुनिक विज्ञान के प्रादुर्भाव में अंग्रेजों की सकारात्मक भूमिका से इनकार नहीं किया। साथ ही साथ उनका यह भी मानना था कि भारत में प्राचीन काल से ही वैज्ञानिक परम्परा मौजूद थी। बंगाल के प्रेसिडेंसी कॉलेज के रसायनशास्त्र के प्रो. पी. सी. राय ने *द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री* में इसी द्वैधता का परिचय दिया है क्योंकि उन्होंने इसके साथ-साथ नाइट्रेट के क्षेत्र में रसायनिक खोजें भी की थीं। 1902 और 1908 में दो खंडों में प्रकाशित इस पुस्तक में इस साम्राज्यवादी विचार को खारिज किया गया था कि विज्ञान केवल पश्चिम की देन है। इस पुस्तक की पूरी दुनिया में चर्चा हुई और इसमें ऐतिहासिक प्रमाण सामने रखे गए थे। जोसेफ नीधम के *साइंस ऐंड सिविलाइजेशन इन चाइना* जैसे इतिहास ग्रंथों में कई इतिहासकारों ने यह विचार सामने रखा था कि विज्ञान का उद्भव और विकास कई सभ्यताओं की देन है।

भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व के सामने आधुनिक विज्ञान और भारतीय सभ्यता पर इसके ऐतिहासिक प्रभाव को लेकर दो प्रकार की विचारधाराएं सामने आईं। मोहन दास करमचंद गांधी ने रेलवे, वकीलों और चिकित्सकों की आलोचना की और मशीन को बहुत बड़ा अभिशाप माना। *हिन्द स्वराज* (1990) में उन्होंने कहा कि मशीनों ने भारत को दरिद्र बना दिया है। दूसरी ओर उनके शिष्य जवाहरलाल नेहरू इस बात पर उनसे सहमत नहीं थे। *द यूनिटी ऑफ इंडिया* (1941) शीर्षक लेख में उन्होंने घोषणा की थी कि 'मैं राजनीति से अर्थशास्त्र की ओर और अर्थशास्त्र से विज्ञान की ओर बढ़ा और हमारी भूख और गरीबी जैसी समस्याओं को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही दूर किया जा सकता है'। प्रधानमंत्री के रूप में उन्होंने पंचवर्षीय योजनाएं लागू कर और बड़े बांध बंधवाकर और इस्पात के कारखाने लगवाकर भारत का पूरा परिदृश्य ही बदल डाला। विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पारिस्थितिकी के सवाल पर आधुनिक परिवर्तनवादी पर्यावरणीय इतिहासकार नेहरू की अपेक्षा गांधी के विचारों से ज्यादा सहमत दिखते हैं।

बाद के औपनिवेशिक काल में पारिस्थितिकी को लेकर एक महत्वपूर्ण सवाल उभरा कि इस दौरान देश में किस हद तक बदलाव आया है। इसी समय अर्थशास्त्री राधाकमल मुखर्जी ने *सोशल इकोलॉजी* (लंदन, 1942) नामक एक पुस्तक लिखी। अपनी एक अन्य पुस्तक में उन्होंने नदियों और पारिस्थितिकी में आए बदलावों के ऐतिहासिक प्रमाणों का परीक्षण किया है। यह एक बेहतरीन कृति है। उनकी किताब का नाम है: *द चेंजिंग फेस ऑफ बंगाल: ए स्टडी इन रिवरिन इकोनोमी* (कलकत्ता, 1839)। ऐसा नहीं है कि उन्होंने पहली बार पर्यावरण संबंधी परिवर्तनों के आधार पर परिवर्तनों का वर्णन किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में अंग्रेज अधिकारी डी.बटर ने *ऐन आउटलाइन ऑफ द टोपोग्राफी ऐंड स्टैटिस्टिक्स ऑफ द सादर्न डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ अवध* (कलकत्ता, 1839) में एक रिपोर्ट लिखी और उसने यह दिखाया कि हाल के दशकों में गर्मी में चलनेवाली गर्म हवा में किस प्रकार वृद्धि हो रही है। गौरतलब है कि मुगल काल से उत्तरी गांगेय प्रदेश में बड़े पैमाने पर वनों को काटा जा रहा था जबकि दूसरे क्षेत्रों में उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में जंगल और खेत एक दूसरे से मिले हुए थे। जेम्स टेलर ने *ए स्केच ऑफ द टोपोग्राफी ऐंड स्टैटिस्टिक्स ऑफ दक्का* (कलकत्ता, 1840) में इस बात का उल्लेख किया है। औपनिवेशिक अधिकारियों ने ऐतिहासिक भूगोल में अपनी रुचि दिखाई थी और एलेक्जेंडर कन्नींघम ने *द एन्सिएंट जियोग्रॉफी ऑफ इंडिया* (लंदन, 1871) नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी। बाद में जदुनाथ सरकार ने *द इंडिया ऑफ औरंगजेब (टोपोग्राफी, स्टैटिस्टिक्स ऐंड रोड),* (कलकत्ता, 1901) नामक अपनी पुस्तक में यह बताया कि आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के आने के पहले भी जनसांख्यिकी और

वाणिज्यिक कारकों के फलस्वरूप समय के साथ-साथ देश का चेहरा बदलता रहा था। यह बात अलग है कि इतिहासकारों का ध्यान हाल ही में इस ओर गया और उन्होंने पारिस्थितिकी में आनेवाले परिवर्तनों को रेखांकित किया।

30.3 मौजूदा इतिहास-लेखन

1990 के दशक में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पर्यावरण के नए ऐतिहासिक अध्ययनों के क्रम में कई विषय और प्रश्न उभरकर सामने आए जिसने चर्चा को एक परिष्कृत ढांचा प्रदान किया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की राजनीति क्या थी ? क्या वे साम्राज्यवादी वर्चस्व और राष्ट्रीय पुनर्संरचना के साधन थे? जीवन के आर्थिक संगठन पर प्रौद्योगिकी का क्या प्रभाव पड़ा-इसने जीवन को समृद्ध किया या दरिद्र बनाया ? विज्ञान के प्रति लोगों का रवैया कैसा रहा ? लोगों ने इसे स्वीकार किया या तिरस्कार ? जन-कल्याण के प्रश्न पर पर्यावरणीय परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ा—अंशतः लाभप्रद या पूर्णतः निषेधात्मक ?

हाल के इतिहास-लेखन से संबंधित उपयुक्त सरोकार पूरी तरह से नए नहीं थे। वस्तुतः ये मुद्दे साम्राज्यवादी, राष्ट्रवादी और लोकचर्चा तथा उक्तियों में गुंथे हुए थे। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। 1863 में बम्बई के बार्टल फ्रेरे के साथ रेलवे की शुरुआत करनेवाले साम्राज्यवादी योजनाकारों का यह मानना था कि इससे भारत में अंग्रेजों की सैन्य शक्ति में चौगुनी वृद्धि होगी। 1908 में राष्ट्रवादी विचारों को सामने रखते हुए गांधी जी ने खुलेआम कहा था कि 'रेलवे, वकील और चिकित्सकों ने देश को निर्धन बना दिया है और यदि हम समय से नहीं जागे तो हम बर्बाद हो जाएंगे'। इसके अलावा उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान आधुनिक युग में होनेवाले परिवर्तनों की लोकमन पर पड़नेवाले प्रभावों और प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति लोकगीतों में हुई है जिसे विलिय क्रूक ने संकलित किया है। इसमें से एक गीत में ट्रेन के बारे में यह कहा गया है कि: 'यह न अनाज खाती है, न पानी पीती है / भाप के जोर से चलती है / यह सड़कों पर नहीं चलती, लोहे की पटरी पर दौड़ती है / इसके आगे ईंजन होता है, पीछे मोटर होती है, भक-भक कर दौड़ती है'। इस गीत में न तो इसके पक्ष में न विपक्ष में कोई बात कही गई है बल्कि एक कौतुहल और उत्सुकता की बात जरूर देखने को मिलती है। जहां तक इतिहास-लेखन का सवाल है, इस प्रकार के मुद्दों और प्रश्नों का विश्लेषण कर नई परम्परा की शुरुआत की जा रही थी। इसके पहले विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर होनेवाली चर्चाएं संतुलित नहीं होती थी। एक ओर देशभक्त पश्चिमी विज्ञान और प्रौद्योगिकी को कमतर साबित करने के लिए वेदों का सहारा लिया करते थे। दूसरी ओर कुछ इतिहासकारों ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति के बारे में औपनिवेशिक शासकों के दावों को इनके पीछे छिपे मंतव्यों की जांच किए बिना आंख मूंदकर स्वीकार कर लिया।

दीपक कुमार ने *साइंस ऐंड द राज* (नई दिल्ली, 1995); डेविड आर्नोल्ड ने *कोलोनाइज़िंग द बॉडी: स्टेट मेडीसिन ऐंड एपिडेमिक डीजिजेज इन नाइनटीन्थ सेंचुरी इंडिया* (बर्क्ले, 1993); ज्ञान प्रकाश, *अनदर रीजन: साइन्स, टेकनोलॉजी ऐंड मेडीसिन इन कोलोनियल इंडिया* (कैम्ब्रिज, 2000) में विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर चर्चा करते हुए सत्ता और राजनीति से इसे जोड़कर देखा है। सबाल्टर्न स्कूल से जुड़े डेविड आर्नोल्ड और प्रकाश ने विज्ञान को राजनीति से जोड़कर देखा है। आर्नोल्ड ने औपनिवेशिक विमर्श की तकनीक से विज्ञान को जोड़ा है। वहीं दूसरी ओर प्रकाश ने देश को आधुनिक और तार्किक ढंग से लोगों के समूह के रूप में कल्पित करने की प्रक्रिया में विज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान माना है। दोनों का मानना है कि नई प्रौद्योगिकी स्थान और राज्य के बीच सम्पर्क स्थापित करने का एक माध्यम है और इस प्रकार विज्ञान सत्ता और वर्चस्व का माध्यम है। विज्ञान के नाम पर औपनिवेशिक प्रशासन ने वर्चस्व की नीति अपनाई जिसमें उनका उद्देश्य अपनी सत्ता स्थापित करना था न कि उपनिवेश और जनता का कल्याण करना। विज्ञान के नाम पर ही

राष्ट्रवादी आंदोलन और इस आंदोलन से सहानुभूति रखनेवाले भारतीय वैज्ञानिकों ने सत्ता का एक वैकल्पिक केन्द्र ढूंढने का प्रयास किया और एक ऐसे राज्य की कल्पना की जो वैज्ञानिक दृष्टि और आधुनिक चेतना से संपृक्त होकर मुक्ति का आह्वान कर सकता है। सबाल्टर्न इतिहासकारों ने यह अनुमान लगाया कि रेलवे और टेलीग्राफ को लोग अकाल और महामारी से जोड़ेंगे और इससे लोगों में औपनिवेशिक वर्चस्व के खिलाफ आक्रोश पैदा होगा। 1918 के इन्फ्लुएंजा, हैजा, चेचक और प्लेग से होनेवाली मौतों का ऐतिहासिक अध्ययन हुआ। इस बीमारी के कारण राजनीतिक उथल पुथल मची और औपनिवेशिक शासन की स्वास्थ्य नीतियों के खिलाफ लोगों ने आवाज बुलंद की।

1990 के दशक में इतिहास की एक अलग शाखा के रूप में पारिस्थितिकी इतिहास का जन्म हुआ जो विश्वव्यापी पर्यावरण आंदोलन का प्रतिफलन था। 1987 में सी.ए.बेली ने *इंडियन सोसाइटी ऐंड द मेकिंग ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर, न्यू कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वॉल्यूम II* (कैम्ब्रिज, 1987) में यह घोषणा की कि 'भारत में पारिस्थितिकी परिवर्तन नए विषय के रूप में उभर रहा है परंतु अभी तक इसका सर्वेक्षण नहीं किया गया है'। बेली ने खुद यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया था कि 1780 के बाद 100वर्षों के भीतर उपमहाद्वीप में तेजी से जंगलों का कटाव हुआ। रामचन्द्र गुहा ने पहला नया पारिस्थितिकी इतिहास लिखा। उनकी पुस्तक का नाम *द अनक्वायट वुड्सः इकोलोजीकल चेंज ऐंड पीजेन्ट रेसिसटेन्स इन द हिमालय* (दिल्ली, 1991) है। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में पर्यावरण में होनेवाले परिवर्तनों का ब्योरा देने की अपेक्षा वर्चस्व और प्रतिरोध के निम्नवर्गीय विषय को केन्द्र में रखा है। इसमें हिमालय के वन संसाधनों के व्यावसायिक दोहन के खिलाफ हिमालय की तलहटी में रहनेवाले लोगों के बीच फैले जन आंदोलन का अध्ययन किया गया है। रामचन्द्र गुहा और माधव गाडगिल ने अपनी पुस्तक *दिस फिसर्ड लैंडः ऐन इकोलोजीकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया* (दिल्ली, 1992) में इसका विस्तृत अध्ययन किया है और उन्होंने इस पुस्तक में यह बात कही है : 'भारत में किसानों और संसाधनों के औद्योगिक इस्तेमाल तरीके के बीच चलनेवाला संघर्ष दो चरणों से गुजरा है : औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक। इसने जमीन को निरावृत्त किया और इसे पारिस्थितिकी और सामाजिक दृष्टि से तोड़फोड़ कर रख दिया है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी'। कुछ अन्य पर्यवेक्षकों का तो यहां तक मानना है कि अब इसकी भरपाई भी नहीं की जा सकती। संरक्षण और औपनिवेशिक नीतियों के विपरीत पारिस्थितिकी परिणामों पर कई अध्ययन किए गए जिसमें शामिल हैं रिचर्ड एच.ग्रोव, *ग्रीन इम्परियलिज्मः कोलोनियल एक्सपेंसन, ट्रौपिकल आइलैंड इडेन्स ऐंड द ओरिजिन्स ऑफ इन्वरनमेंटलिज्म 1600-1860* (कैम्ब्रिज, 1994) और महेश रंगराजन, *फेंसिंग द फॉरेस्टः कन्जरवेशन ऐंड इकोलोजिकल चेंज इन इंडियाज सेन्ट्रल प्रोविन्सेज 1860-1914* (नई दिल्ली, 1996)। वनवासियों के अधिकारों का हरण पारिस्थितिकी इतिहास का प्रमुख विषय बना और इसके साथ-साथ बढ़ते प्रतिरोध और संरक्षण के प्रयासों पर भी विचार किया गया।

इसके अलावा परम्परागत रूप से आर्थिक इतिहास भी लिखा गया जिसमें पर्यावरण पर औपनिवेशिक शासन के पड़नेवाले प्रभावों पर प्रकाश डाला गया। कृषि के बढ़ते दायरे और सिंचाई के लिए बनाई गई नहरों में नमक इकट्ठा होने की समस्या, पानी जमाव और बीमारी के फैलने आदि पहलुओं पर विभिन्न कृतियों में अध्ययन किया गया जिनमें प्रमुख हैं : ऐलिजाबेथ ह्विटकॉम्ब का *एग्रेरियन कन्डिशन्स इन नॉर्दर्न इंडियाः द यूनाइटेड प्रोविन्सेज अन्डर ब्रिटिश रूल, 1860-1900* (बक्रले, 1972); इयान स्टोन, *कैनाल इरीगेशन इन ब्रिटिश इंडियाः पर्सपेक्टिव्स ऑन टेक्नोलॉजिकल चेंज इन ए पीजेन्ट इकोनोमी* (कैम्ब्रिज, 1984); और एम. मुफखारूल इस्लाम, *इरीगेशन, एग्रीकल्चर ऐंड द राजः पंजाब 1887-1947* (नई दिल्ली, 1997)। यह बात सामने आई कि सड़कों और नहरों ने प्राकृतिक जल बहाव में बाधा उत्पन्न की और इस प्रकार प्रकृति का संतुलन बिगड़ा। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि सिंचाई से कृषि की उत्पादकता बढ़ी। रॉबर्ट वैरेडी और अन्य लोगों ने रेलवे के विस्तार के प्रभाव का अध्ययन करते हुए यह दिखाया कि रेलवे ने हिमालय के वन क्षेत्र को विरल कर दिया और

मैदानी इलाकों के जंगलों को साफ कर दिया और यह केवल सस्ते कोयले के बल पर चलता रहा। सड़कों और रेलवे के आने से बीमारियों से लदे कीचड़ों के खड्डे फैलने लगे, महामारी फैली और मृदा अपरदन में तेजी आई। इसके बावजूद जॉन हर्ड और मुकुल मुखर्जी जैसे आर्थिक इतिहासकारों ने निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि 'रेलवे ने आंतरिक व्यापार को बढ़ावा दिया।' मौसमी उतार-चढ़ाव को कम किया और अनाज तथा कपास के अलग-अलग बाजारों के भाव को पाटा और बाजारों को एक दूसरे से जोड़ने का काम किया।

पर्यावरण इतिहासकार के बजाए आर्थिक इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास में कृषि के क्षेत्र में आई गिरावट और घटते जंगलों और चारागाहों का इतिहास सामने रखा। शीरिन मुसवी ने अपने *मैन ऐंड नेचर इन द मुगल एरा* (सिम्पोजियम पेपर, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1993) में यह स्थापित किया कि उत्तरी भारत में चारागाहों और बंजर जमीनों पर खेती की जाने लगी और इस प्रकार 1601 और 1909 के बीच खेती का क्षेत्रफल दोगुना हो गया।

आर्थिक इतिहासकारों और विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पर्यावरण के नए इतिहासकारों के कामों को मिलाकर देखने से एक संतुलित आकृति उभरती है। इतिहास का एक नया चेहरा उभरा। पर्यावरण पर आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पड़नेवाले बुरे प्रभावों को उजागर किया गया। परंतु इसके साथ-साथ इसके फायदों से भी अवगत कराया गया।

30.4 आधुनिक इतिहास में प्रौद्योगिकी की भूमिका

पर्यावरण इतिहास के उदय ने इतिहासकारों को आधुनिक भारतीय इतिहास में विज्ञान और प्रौद्यौगिकी की भूमिका पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित किया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि पर्यावरण इतिहासकारों ने औपनिवेशिक और पूर्व-औपनिवेशिक कालों के दौरान प्रौद्यौगिकी प्रगति के फलस्वरूप प्राकृतिक पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों जिसका कुछ इलाकों में ज्यादा ही नकारात्मक असर देखने को मिलता है की ओर ध्यान आकृष्ट किया। प्रौद्यौगिकी विकास के प्रति आरंभिक अनालोचनात्मक रवैये के स्थान पर विज्ञान और प्रौद्यौगिकी विषयों के आलोचनात्मक अध्ययन की बात सामने आई। ब्रिटिश उपनिवेशवादी इतिहासकारों का यह मानना था कि भारत में विज्ञान और प्रौद्यौगिकी के आगमन से ब्रिटिश शासन के दौरान भारतवासियों को काफी फायदा हुआ था। उनका यह भी मानना था कि आरंभ में भारतवासियों ने रेलवे और टेलीग्राफ जैसे परिवर्तनगामी नवीन तकनीकों का प्रतिरोध किया। जे.एच. के ने अपनी पुस्तक *ए हिस्ट्री ऑफ द सिपॉय वार इन इंडिया* (लंदन, 1867) में 1857 विद्रोह के बारे में लिखते हुए यह बात कही है। के ने लिखा है कि बिना घोड़े या बैल के तीस मील प्रति घंटे की रफ्तार से दौड़नेवाली रेलगाड़ियों और क्षणभर में संदेश को एक जगह से दूसरे जगह पहुंचानेवाले बिजली के तारों को देखकर हिन्दू पुजारी वर्ग हतप्रभ था। आग से चलनेवाले इन गाड़ियों और बिजली से अत्यन्त तेजी से पहुंचनेवाले संदेशों की प्रणाली से काल और समय पर विजय प्राप्त करते देख ब्राह्मणों की बुद्धि चकरा गई और उनकी बोलती बंद हो गई। इस चमत्कार के सामने वे अपने को शर्मसार महसूस करने लगे और लेखक के कथनानुसार इसी की प्रतिक्रिया में विद्रोह हुआ। ब्रिटिश उपनिवेषवादी दृष्टिकोण यह था कि विद्रोह को दबाए जाने के बाद प्रौद्यौगिकी, संचार और परिवहन में सुधार होने से वास्तविक प्रगति हुई। अपनी एक प्रसिद्ध कृति *मॉडर्न इंडिया ऐंड द वेस्ट: ए स्टडी ऑफ द इन्टरेक्शन्स ऑफ देयर सिविलाइजेशन* (लंदन, 1941) में औपनिवेशिक अधिकारी और संपादक एल.एस.एस.ओ मैली ने 'मेकेनिज्म ऐंड ट्रान्सपोर्ट' नामक अध्याय शामिल किया। इस अध्याय में रेलवे, प्रसारण और फिल्म को शामिल करने के साथ-साथ भारत में इसके सकारात्मक पक्ष पर विचार किया गया है।

आजादी के बाद विश्लेषणात्मक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य निर्मित करने के लिए प्रौद्यौगिकी का अध्ययन आरंभ किया गया। नेहरू स्मृति संग्रहालय और पुस्तकालय में प्रमुख वैज्ञानिकों और

तकनीकी शिक्षाविदों की व्याख्यान श्रृंखला से इसकी शुरुआत हुई। ये व्याख्यान बी.आर.नन्दा की संपादित पुस्तक *साइंस ऐंड टेक्नोलॉजी इन इंडिया* (नई दिल्ली, 1977) में संकलित है। यहां भी जवाहरलाल नेहरू के प्रगतिशील नेतृत्व पर बल देते हुए इसके प्रभाव को बहुत कुछ अनालोचनात्मक और सकारात्मक दृष्टि से देखा गया। इन आरंभिक कृतियों में प्रौद्यौगिकी को विज्ञान के इतिहास का अंग माना गया। थोड़े समय बाद स्वयं प्रौद्यौगिकी इतिहास की जटिल और आलोचनात्मक दृष्टि विकसित की गई। पश्चिम के कई इतिहासकार इस बात पर बल देते रहे कि पश्चिम से पूरब की ओर आई प्रौद्योगिकी ने यहां प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। डेनियल आर.हेडरिक ने *द टेनटैकल्स ऑफ प्रोग्रेसः टेक्नोलॉजी ट्रान्सफर इन द एज ऑफ इम्पीरियलिज्म, 1850 - 1940* (न्यूयाक्र, 1988) में रेलवे, वनस्पति, विज्ञान, शहरी ढांचे, धातु विज्ञान, तकनीकी शिक्षा आदि विशेषकर भारत के संदर्भ में पश्चिम से पूरब की ओर आने पर विशेष बल दिया। रॉय मैकलोड और दीपक कुमार के संपादन में निकली *टेक्नोलॉजी ऐंड द राज* (नई दिल्ली, 1995) में खासतौर पर भारत के संदर्भ में आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। इस संकलन का एक प्रसिद्ध लेख इयान डर्बीशायर का 'द बिल्डिंग ऑफ इंडियाज रेलवेजः द एप्लिकेशन ऑफ वेस्टर्न टेक्नोलॉजी इन द कोलोनियल पेरिफेरी' है। इसमें कहा गया है कि इंगलैंड के विपरीत भारत में रेलवे के विकास से कोई 'पश्च संबंध' लाभ नहीं हुए। श्रम बाजार की स्थितियों के कारण बड़े पैमाने पर मशीनीकरण नहीं किया जा सका। तकनीकी विकास में औपनिवेशिक निर्भरता बनी रही। तुलनात्मक दृष्टि से भारत न केवल अमेरिका से बल्कि रूस से भी पीछे रहा जहां निर्माण के क्षेत्र में नई बातें सोची और की जा रही थीं। नए औजार विकसित किए जा रहे थे और इसे लागू करने की नई प्रविधि पर विचार हो रहा था।

पश्च संबंध प्रभाव परिणाम (बैकवर्ड लिंकेज एफेक्ट) का संबंध अर्थव्यवस्था की विभिन्न कार्यवाइयों को तेज करने से था ताकि नई दिशा में उत्पादन शुरु किया जा सके। दूसरी ओर अग्र संबंध लाभ (फारवर्ड लिंकेज बेनिफिट) मुख्य उत्पाद से अन्य उत्पादों की मांग को बढ़ाना था। जहां तक भारत में रेलवे निर्माण का सवाल है अग्र संबंध फायदे के रूप में ईंजनों के निर्माण का कार्य यहां शुरु हो सकता था। औपनिवेशिक काल में ऐसा न के बराबर हुआ। अपने एक प्रसिद्ध लेख 'इकोनोमिक इम्पीरियलिज्म', जो पहले *द इंडियन इकोनोमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू* (अक्टूबर, 1965) में प्रकाशित हुआ था में एफ.लेमैन ने यह हिसाब लगाया था कि भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान देश में 700 से ज्यादा ईंजन नहीं बने थे जबकि 1947 तक आते-आते भारत में रेलवे का व्यापक विस्तार हो चुका था। ज्यादातर ईंजन बाहर से बनकर आते थे जिनमे अधिकांश इंगलैंड के बने होते थे। यदि रेलवे अधिकारियों ने भारत में बड़े पैमाने पर ईंजनों के निर्माण का कार्य शुरु किया होता तो यह भारत में आजादी के पहले भारी इंजीनीयरिंग का आधार बन सकता था। ऐसा हुआ। परंतु इस विकास के लिए नेहरू युग का इंतजार करना पड़ा। एक प्रसिद्ध लेखक डेनियल थॉर्नर ने औपनिवेशिक प्रौद्यौगिकी नव प्रयासों से सीमित आर्थिक विकास का विश्लेषण किया। उन्होंने अपनी पुस्तक *इन्वेस्टमेंट इन एम्पायरः ब्रिटिश रेलवे ऐंड स्टीम शिपिंग इन्टरप्राइज इन इंडिया 1825 - 1849* (फिलेडेलफिया, 1950) में भारत के पूंजी बाजार पर औपनिवेशिक रेलवे और आज के जहाज उद्यम के सीमित प्रभाव का उल्लेख किया है। इसके अलावा एक अन्य महत्वपूर्ण कृति 'द पैटर्न ऑफ रेलवे डेवेल्पमेंट इन इंडिया' जो पहली बार *फार ईस्टर्न क्वार्टर्ली* (1955) में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने यह भी कहा था कि :'भारत ही एक ऐसा देश है जहां रेलवे का इतना ज्यादा विस्तार होने के बावजूद यह देश अनौद्योगीकृत है।'

गौरतलब है कि अभी भी ब्रिटेन से भारत को होनेवाले विज्ञान और प्रौद्यौगिकी के हस्तांतरण की ऐतिहासिक भूमिका का आलोचनात्मक सर्वेक्षण पर्यावरणीय दृष्टि की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से ज्यादा किया गया। पर्यावरणाात्मक इतिहास के उदय ने प्रौद्यौगिकी और विज्ञान की भूमिका की मौजूदा आलोचना में एक नया आयाम जोड़ा। इयान जे.केर ने *रेलवेज इन मॉडर्न*

इंडिया (नई दिल्ली, 2001) में आर्थिक और पर्यावरण संबंधी तर्कों को मिलाने का प्रयास किया। भारत में रेलवे के विकास पर यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। केर ने बड़ी ही ईमानदारी से नए पर्यावरणात्मक इतिहासकारों और अधिक परम्परागत आर्थिक इतिहासकारों के रेलवे नेटवर्क की आलोचना को शामिल किया। इसी के साथ-साथ वे खासतौर पर रेलवे और आमतौर पर प्रौद्योगिकी के सकारात्मक फायदों को बताने से भी नहीं चुके। भारत में पश्चिमी दवाइयों का आयात विज्ञान और प्रौद्योगिकी का एक प्रमुख अंग है। यहां भी हाल के अनुसंधानों में केवल सकारात्मक ही नहीं बल्कि नकारात्मक विकासों को भी रेखांकित किया गया है। इन नए अनुसंधानों में हालांकि आलोचनात्मक स्वर अपनाया गया है (जैसा कि डेविड आर्नोल्ड द्वारा) परंतु इसमें प्रौद्योगिकी के महत्वपूर्ण फायदों की भी जानकारी दी गई है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आधुनिक चिकित्सा के बिना भारत की विशाल और बढ़ती जनसंख्या जानलेवा अकालों और महामारियों का सामना नहीं कर सकती थी।

30.5 सारांश

अनुसंधान में हुई प्रगति के परिणामस्वरूप विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पारिस्थितिकी इतिहास की प्रमुख शाखा बन गई। इसने इतिहास में महत्वपूर्ण और नए आयाम जोड़े। इसके साथ ही विस्तृत अनुसंधान के द्वारा विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पर्यावरण के इतिहासों का परस्पर संबंध भी दर्शाया गया। इससे इतिहास का स्वरूप बदल गया।

30.6 अभ्यास

1) आधुनिक इतिहास में प्रौद्योगिकी की भूमिका पर टिप्पणी लिखिए।

2) आधुनिक प्रौद्योगिकी की भूमिका और प्रकृति के संबंध में राष्ट्रवादियों के दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालिए।

3) विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर लिखी ऐतिहासिक कृतियों की चर्चा कीजिए।

एम. ए. इतिहास

पाठ्यक्रमों की सूची

पाठ्यक्रम कोड	पाठ्यक्रम का शीर्षक	क्रेडिट
एम.एच.आई.-01	प्राचीन और मध्यकालीन समाज	8
एम.एच.आई.-02	आधुनिक विश्व	8
एम.एच.आई.-03	इतिहास-लेखन	8
एम.एच.आई.-04	भारत की राजनीतिक संरचनाएं	8
एम.एच.आई.-05	भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास	8
एम.एच.आई.-06	भारत में सामाजिक संरचनाओं का विकास	8
एम.एच.आई.-07	भारत में धार्मिक चिंतन और आस्था	8
एम.एच.आई.-08	भारत में पारिस्थितिकी और पर्यावरण का इतिहास	8

एम.एच.आई.-3 : इतिहास-लेखन

खंड-वार पाठ्यक्रम संरचना

खंड-01	इतिहास का परिचय
खंड-02	पूर्व-आधुनिक परंपराएँ-1
खंड-03	पूर्व-आधुनिक परंपराएँ-2
खंड-04	आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-1
खंड-05	आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-2
खंड-06	भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ और विषय-1
खंड-07	भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ और विषय-2